

समयसार महामण्डल विधान

(प्राकृत की मूल गाथायें एवं आत्मख्याति में समागत कलशों सहित)

रचयिता :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी., डी.-लिट्

श्री जयेश मीनल ठोलिया, यू.एस.ए.

की ओर से प्रस्तुत प्रकाशन का सम्पूर्ण
व्ययभार वहन किया गया है; एतदर्थ आभार।

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम तीन संस्करण (1 अगस्त 2016 से अद्यतन)	:	9 हजार प्रतियाँ
चतुर्थ परिवर्धित संस्करण (5 मार्च 2017) अष्टान्हिका पर्व	:	1 हजार प्रतियाँ

योग : 10 हजार

प्रस्तुत पुस्तक की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

01. श्रीमती कौशल्या देवी जैन, जयपुर	4,000.00
02. स्व. श्री भँवरलाल गंगवाल एवं स्व. श्रीमती मणिप्रभा जैन की पुण्य स्मृति में, जयपुर	2,750.00
03. स्व. श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	2,100.00
04. श्री वरुण जैन, दिल्ली	1,100.00
05. श्री आनन्दकुमार नवीनकुमार पाटनी, इन्दौर	1,100.00
06. श्री माँगीलालजी जैन, मुम्बई	1,000.00
07. गुप्तदान हस्ते ज्योति सेठी, जयपुर	500.00

कुल योग : 12,550.00

अनुक्रमणिका

● मंगलाचरण	5
1. श्री समयसार पूजन	7
2. पूर्वरंग-समन्वित जीव-अजीव अधिकार पूजन	12
3. कर्ता-कर्म अधिकार पूजन	47
4. पुण्य-पाप अधिकार पूजन	82
5. आस्रव-संवर अधिकार पूजन	96
6. निर्जरा अधिकार पूजन	114
7. बन्ध-मोक्ष अधिकार पूजन	140
8. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार पूजन	172
9. स्याद्वाद और उपाय-उपेयभाव गर्भित परिशिष्ट पूजन	215
● महा जयमाला	235
● समयसार-भक्ति	239

मूल्य : ३५ रुपए

मुद्रक :

रैनवो ऑफसेट प्रिंटर्स
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

(चतुर्थ संस्करण)

तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की सशक्त लेखनी से प्रसूत 'समयसार महामण्डल विधान' का यह परिवर्धित संस्करण प्रकाशित करते हुए हम निश्चित ही अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं। अब आप इस कृति के माध्यम से विधान के साथ-साथ प्राकृत की मूल गाथाओं एवं आत्मख्याति में समागत कलशों का रसास्वादन भी कर सकेंगे। डॉ. भारिल्लजी की लेखनी से अभी तक यह विधा अछूती थी; परन्तु अब समयसार महामण्डल विधान तथा प्रवचनसार महामण्डल विधान की रचना कर आपने सम्भावनाओं के नये द्वार खोले हैं। इन दोनों विधानों का समाज ने समुचित समादर किया है।

यह तो विदित ही है कि स्वर्ण जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य में तीर्थराज सम्मेलन में पाँच दिवसीय विधान का आयोजन प्रस्तावित था। कौन सा विधान किया जाए यह ऊहापोह की स्थिति बनी हुई थी। डॉ. साहब के सुशिष्य डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर के सुझाव पर पन्द्रह दिवस की अल्पावधि में रात-दिन एक कर अस्वस्थता को नजरअन्दाज करते हुए इस विधान की रचना की गई। इसके तीन संस्करण नौ हजार की संख्या में प्रकाशित होने के उपरान्त इस विधान में प्राकृत की मूल गाथायें एवं आत्मख्याति में समागत कलशों को समाहित किया गया है। आशा है विज्ञ पाठक इस नये रूप में से पसन्द करेंगे।

डॉ. राकेशजी शास्त्री का जो महत्त्वपूर्ण सहयोग हमें प्राप्त हुआ है उसके लिए हम उनके आभारी हैं। पण्डित शान्तिकुमारजी पाटील ने उत्थानिका व मंत्र बनाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है; साथ ही अच्युतकान्त द्वारा प्रूफ रीडिंग के कार्य में सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः आप दोनों का भी आभार।

सुन्दर टाईप सैटिंग के लिए श्री कैलाशचन्दजी शर्मा तथा आकर्षक मुखपृष्ठ और प्रकाशन के लिए श्री अखिलजी बंसल को भी धन्यवाद देते हैं।

हमें विश्वास है कि इस विधान के निमित्त से यह विधान करने वाले को सम्पूर्ण समयसार की विषयवस्तु का सहज ही स्वाध्याय होगा।

वे इसमें वर्णित अपनी शुद्धात्मा का स्वरूप समझकर उसके आश्रय से अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करें - इसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

- ब्र. यशपाल जैन

प्रकाशन मंत्री

अपनी बात

लोगों के अति आग्रह पर, जिनमें डॉ. राकेशकुमारजी नागपुर आदि प्रमुख हैं; यह विधान तैयार हुआ है।

इसमें अभी तत्काल कुछ अधिक नहीं किया है; क्योंकि गाथाओं और कलशों के पद्यानुवाद तो तैयार ही थे। वे समयसार अनुशीलन में एवं ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका में छप भी चुके हैं।

अभी तो नौ पूजनों, उनकी जयमालायें, महाजयमाला एवं समयसार भक्ति गीत ही लिखा है; जो पन्द्रह दिन की मेहनत का ही परिणाम है।

९ से १४ अक्टूबर २०१६ के अवसर पर सम्मेलनशिखरजी में करने के लिये विधान की खोज हो रही थी। लोग चाहते थे कि कोई नवीन विधान हो। उसी प्रसंग में से यह रचना हो गई है।

इसके प्रकाशन का काम पूरी तरह पंडित शान्तिकुमारजी पाटिल शास्त्री की देखरेख में हुआ है। उत्थानिकार्यें और ॐ ह्रीं भी उन्होंने ही तैयार की हैं।

इसके पहले जो समयसार विधान चल रहे थे। उनके बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है। यह विधान सीधे सरल रूप में समयसार का ही पाठ है। इसके बहाने आवश्यक टिप्पणियों के साथ समयसार का सामूहिक रूप से स्वाध्याय होगा।

समयसार एक अद्भुत ग्रन्थराज है; जो सम्यग्दर्शन प्राप्ति का साक्षात् निमित्त है; क्योंकि इसमें दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

इसके पाठ से लोगों को लाभ होगा - ऐसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

२४ फरवरी २०१७ ई.

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल



समयसार महामण्डल विधान

(मूलगाथा एवं कलश सहित)

मंगलाचरण

(अडिल्ल^१)

समयसार का एकमात्र प्रतिपाद्य जो ।
आत्मख्याति का एकमात्र आराध्य जो ॥
अज अनादि अनिधन अविचल सद्भाव जो ।
त्रैकालिक ध्रुव सुखमय ज्ञायकभाव जो ॥ १ ॥

परमशुद्धनिश्चयनय का है ज्ञेय जो ।
सत्श्रद्धा का एकमात्र श्रद्धेय जो ॥
परमध्यान का ध्येय उसे ही ध्याऊँ मैं ।
उसे प्राप्त कर उसमें ही रम जाऊँ मैं ॥ २ ॥

समयसार अरु आत्मख्याति के भाव को ।
जो कुछ जैसा समझा है मैंने प्रभो ॥
उसी भाव को सहज सरल शैली विषै ।
विविध पक्ष से जन-जन के हित रख रहा ॥ ३ ॥

१. अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आएगा? की धुन पर गायें ।

इसमें भी है एक स्वार्थ मेरा प्रभो! ।
 नित प्रति ही चित रहा करें इसमें विभो ॥
 मेरे मन का हो ऐसा ही परिणामन ।
 मन का ही अनुकरण करें हित-मित वयन ॥ ४ ॥

अपनापन हो निज आतम में नित्य ही ।
 अपना जानूँ निज आतम को नित्य ही ॥
 रहे निरन्तर निज आतम में ही रमन ।
 रहूँ निरन्तर निज आतम में ही मगन ॥ ५ ॥

अन्य न कोई हो विकल्प हे आत्मन्! ।
 निज आतम का ज्ञान-ध्यान-चिन्तन-मनन ॥
 गहराई से होय निरन्तर अध्ययन ।
 निश-दिन ही बस रहे निरन्तर एक धुन ॥ ६ ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

सम्पूर्ण जिनागम का सिरमौर

भगवान आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक ग्रन्थाधिराज समयसार जिनागम का अजोड़ रत्न है, सम्पूर्ण जिनागम का सिरमौर है। आचार्य अमृतचन्द्र इसे 'जगत् का अद्वितीय अक्षय चक्षु' कहते हैं और कहते हैं कि 'जगत् में इससे महान और कुछ भी नहीं है।'

समयसार का समापन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं लिखते हैं कि 'जो आत्मा, इस समयसार नामक शास्त्र को पढ़कर, इसमें प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व तत्त्व से जानकर, उस आत्मवस्तु में स्थित होता है, अपने को स्थापित करता है; वह उत्तम सुख को प्राप्त करता है अर्थात् वह अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को पाता है।'

- समयसार, ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका, पृष्ठ ३



समयसार पूजन

स्थापना

(रोला)

निर्ग्रन्थों का परम ग्रन्थ जो समयसार है ।

शुद्धातम का प्रतिपादक जो समयसार है ॥

उसे जानकर धन्य करें हम अपना जीवन ।

भक्तिभाव से हम करते हैं उसकी पूजन ॥

ॐ ह्रीं श्री समयसारपरमागम! अत्र अवतर-अवतर संवौषट् ।

ॐ ह्रीं श्री समयसारपरमागम!! अत्र तिष्ठ-तिष्ठ, ठः ठः ।

ॐ ह्रीं श्री समयसारपरमागम!!! अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट् ।

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(अवतार)

जल

निर्मल जल शुद्ध स्वरूप, अपने अन्तर में ।

पावन कर लूँ निजरूप, अपने इस भव में ॥

है समयसार सर्वस्व, ग्रन्थ निर्ग्रन्थों का ।

हम करें नित्य स्वाध्याय, सभी सद्ग्रन्थों का ॥

ॐ ह्रीं श्रीसमयसारपरमागमाय जन्म-जरा-मृत्यु-विनाशनाय जलं निर्वपामीति

स्वाहा ।

चन्दन

शीतल चन्दन-सा शान्त, अपना आत्म है ।
 निज नित्य निरंजन जान, परम परमात्म है ॥
 है समयसार सर्वस्व, ग्रन्थ निर्ग्रन्थों का ।
 हम करें नित्य स्वाध्याय, सभी सद्ग्रन्थों का ॥

ॐ ह्रीं श्रीसमयसारपरमागमाय संसार-ताप-विनाशनाय चन्दनं नि. स्वाहा ।

अक्षत

अक्षत जो आत्मराम, उसमें अपनापन ।
 करके हम अपने आप, करें सम्यग्दर्शन ॥
 है समयसार सर्वस्व, ग्रन्थ निर्ग्रन्थों का ।
 हम करें नित्य स्वाध्याय, सभी सद्ग्रन्थों का ॥

ॐ ह्रीं श्रीसमयसारपरमागमाय अक्षय-पद-प्राप्तये अक्षतं नि. स्वाहा ।

पुष्प

निर्ग्रन्थ आत्मराम, सुख का सागर है ।
 पुष्पों का है क्या काम, अगन्ध अपना घर है ॥
 है समयसार सर्वस्व, ग्रन्थ निर्ग्रन्थों का ।
 हम करें नित्य स्वाध्याय, सभी सद्ग्रन्थों का ॥

ॐ ह्रीं श्रीसमयसारपरमागमाय काम-बाण-विध्वंसनाय पुष्पं नि. स्वाहा ।

नैवेद्य

अत्यन्त मधुर शुद्धात्म-रूपी चरु लेकर ।
 हे समयसार जिनराज! तुमको अर्पित कर ॥
 है समयसार सर्वस्व, ग्रन्थ निर्ग्रन्थों का ।
 हम करें नित्य स्वाध्याय, सभी सद्ग्रन्थों का ॥

ॐ ह्रीं श्री समयसारपरमागमाय क्षुधा-रोग-विनाशनाय नैवेद्यं नि. स्वाहा ।

दीप

यह समयसार-सा दीप, आतम परकाशक ।

महिमा है अगम अनूप, अद्भुत सुखदायक ॥

है समयसार सर्वस्व, ग्रन्थ निर्ग्रन्थों का ।

हम करें नित्य स्वाध्याय, सभी सद्ग्रन्थों का ॥

ॐ ह्रीं श्री समयसारपरमागमाय मोहान्धकार-विनाशयनाय दीपं नि. स्वाहा ।

धूप

निज समयसारमय धूप, कर्मन्धन दाहे ।

निर्मल शुद्धात्मस्वरूप, अनुपम अपना है ॥

है समयसार सर्वस्व, ग्रन्थ निर्ग्रन्थों का ।

हम करें नित्य स्वाध्याय, सभी सद्ग्रन्थों का ॥

ॐ ह्रीं श्री समयसारपरमागमाय अष्ट-कर्म-दहनाय धूपं नि. स्वाहा ।

फल

निज समयसार के ध्यान, का है अनुपम फल ।

जो करे ध्यान से ध्यान, वही हो जाय सफल ॥

है समयसार सर्वस्व, ग्रन्थ निर्ग्रन्थों का ।

हम करें नित्य स्वाध्याय, सभी सद्ग्रन्थों का ॥

ॐ ह्रीं श्री समयसारपरमागमाय मोक्ष-फल-प्राप्तये फलं नि. स्वाहा ।

अर्घ्य

यह समयसार बहुमूल्य, अद्भुत अनुपम है ।

मिट जावे सब अज्ञान, हमारा अनुभव है ॥

है समयसार सर्वस्व, ग्रन्थ निर्ग्रन्थों का ।

हम करें नित्य स्वाध्याय, सभी सद्ग्रन्थों का ॥

ॐ ह्रीं श्री समयसारपरमागमाय अनर्घ्य-पद-प्राप्तयेऽर्घ्यं नि. स्वाहा ।

जयमाला

(दोहा)

समयसार को साधकर, बने सिद्ध भगवान ।
 अनन्त चतुष्टय के धनी, श्री अरिहन्त महान ॥ १ ॥
 आचारज पाठक मुनी, प्रमत्त और अप्रमत्त ।
 गुण में नित विचरण करें, नमन करूँ मैं नित्य ॥ २ ॥
 ज्ञायक-भाव-प्रकाशिनी, भाषी श्री भगवन्त ।
 परमतत्त्व प्रतिपादिनी, जिनवाणी जयवन्त ॥ ३ ॥

(अडिल्ल)

साधकगण का एकमात्र है साध्य जो ।
 मुक्तिमार्ग का एकमात्र आराध्य जो ॥
 उसमें ही मन रमे निरन्तर रात-दिन ।
 परमसत्य शिव सुन्दर ज्ञायकभाव जो ॥ ४ ॥

(रोला)

केवल ज्ञायकभाव जो बद्धाबद्ध नहीं है ।
 जो प्रमत्त-अप्रमत्त न शुद्धाशुद्ध नहीं है ॥
 नय-प्रमाण के जिसमें भेद-प्रभेद नहीं हैं ।
 जिसमें दर्शन-ज्ञान-चरित के भेद नहीं हैं ॥ ५ ॥
 जिसमें अपनापन ही दर्शन-ज्ञान कहा है ।
 सम्यक्चारित्र जिसका निश्चल ध्यान रहा है ॥
 वह एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्म परमात्म ।
 अजअनादि मध्यान्त रहित ज्ञायक शुद्धात्म ॥ ६ ॥
 गुण-भेदों से भिन्न सार है समयसार का ।
 पर्यायों से पार सार है समयसार का ॥

मुक्तिवधू का प्यार सार है समयसार का ।
 एकमात्र आधार सार है समयसार का ॥७॥
 शुद्धभाव से बलि-बलि जाऊँ समयसार पर ।
 जीवन का सर्वस्व समर्पण समयसार पर ॥
 समयसार की विषय-वस्तु में नित्य रमे मन ।
 समयसार के ज्ञान-ध्यान में बीते जीवन ॥८॥
 शुद्धभाव से करूँ विरेचन पुण्य-पाप का ।
 शुद्धभाव से करूँ विवेचन समयसार का ॥
 समयसार जो शुद्धात्म का प्रतिपादक है ।
 शुद्ध ज्ञानमय परमभाव का उद्घाटक हैं ॥९॥

ॐ ह्रीं श्री समयसारपरमागमाय जयमाला-पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(दोहा)

महिमा शुद्धस्वभाव की, जिसका आर न पार ।
 समयसार गाता रहे, अद्भुत अपरम्पार ॥१०॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

समयसार का प्रयोजन

आचार्यदेव कहते हैं कि 'इस समयसार में मैं जो कुछ भी कहूँगा, वह सब वस्तु-स्वरूप के अनुरूप तो होगा ही; सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि के अनुसार भी होगा, गणधरदेव रचित द्वादशांग के अनुसार भी होगा तथा शुद्धात्मा और सम्पूर्ण पदार्थों के सही स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला ही होगा । यह काम मैं स्व-पर के कल्याण के लिए ही कर रहा हूँ । वह स्व-पर का कल्याण भी कोई लौकिक प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला नहीं है अर्थात् अनादिकालीन मोह के नाश के लिए ही यह उपक्रम है ।'

- समयसार, ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका, पृष्ठ ९

पूर्वरंग-समन्वित जीव-अजीव अधिकार पूजन

स्थापना

(हरिगीत)

जगत् के चेतन-अचेतन, तत्त्व की यह बात है ।
जीव और अजीव के, अधिकार की यह बात है ॥
आत्मा की बात है, परमात्मा की बात है ।
परम अनुपम शुद्ध ज्ञायकभाव की यह बात है ॥

(दोहा)

देहादिक से भिन्न जो, पर्यायों से पार ।
ज्ञानस्वभावी आत्मा, दे आनन्द अपार ॥
वर्णादि - रागादि से, है यह आत्म भिन्न ।
शुद्ध बुद्ध चैतन्यमय, और अखण्ड अनन्य ॥
जीव-अजीव अधिकार की, पूजन परमानन्द ।
भक्तिभाव से करें तो, कटें करम के फन्द ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकार!
अत्र अवतर-अवतर संवौषट् ।

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकार!
अत्र तिष्ठ-तिष्ठ, ठः ठः ।

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकार!
अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट् ।

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(अवतार)

जल

यह जल मलनाशक वस्तु, अनुपम निर्मल है।

रे! तृषा-वेदना शान्त-करन को शीतल है ॥

रे! यह अधिकार महान, वस्तु का प्रतिपादक।

आतम अभिराम जहान^१-, ज्ञेयों का ज्ञायक ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकाराय
जन्म-जरा-मृत्यु-विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

चन्दन

भव-तप-हरचन्दन-गन्ध, शशि-समशीतल है।

इसका आराधक आज, सभी भूमण्डल है ॥

रे! यह अधिकार महान, वस्तु का प्रतिपादक।

आतम अभिराम जहान-, ज्ञेयों का ज्ञायक ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाऽजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकाराय
संसार-ताप-विनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

अक्षत

अक्षत आतम अभिराम, अमर अविनाशी है।

इस आतम का गुणगान, सभी करते ही है ॥

रे! यह अधिकार महान, वस्तु का प्रतिपादक।

आतम अभिराम जहान-, ज्ञेयों का ज्ञायक ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकाराय
अक्षय-पद-प्राप्तये अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ।

पुष्प

सुर-तरु के पुष्प अनेक, सुर-गण लावत हैं।

है समयसार गुण-खान, गणधर गावत हैं ॥

१. लोकालोक के

रे! यह अधिकार महान, वस्तु का प्रतिपादक।

आतम अभिराम जहान-, ज्ञेयों का ज्ञायक ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकाराय
काम-बाण-विध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

नैवेद्य

नैवेद्य मधुर गुणखान, षट्स के लाया।

ना तृप्त हुआ भगवान, भक्ति से लाया ॥

रे! यह अधिकार महान, वस्तु का प्रतिपादक।

आतम अभिराम जहान-, ज्ञेयों का ज्ञायक ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकाराय
क्षुधा-रोग-विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

दीप

तमहर दीपक ना देव, मोहतम नाश करे।

शरणा में आया नाथ, मोहतम नाश करो ॥

रे! यह अधिकार महान, वस्तु का प्रतिपादक।

आतम अभिराम जहान-, ज्ञेयों का ज्ञायक ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकाराय
मोहान्धकार-विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

धूप

यह धूप दशांगी नाथ!, न कर्म की नाशक है।

यह आतम है सुखधाम, स्व-परप्रकाशक है ॥

रे! यह अधिकार महान, वस्तु का प्रतिपादक।

आतम अभिराम जहान-, ज्ञेयों का ज्ञायक ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकाराय
अष्ट-कर्म-दहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

फल

ताजे प्रासुक फल आज, लेकर आया हूँ।
हो सफल भावना आज, शरण में आया हूँ॥

रे! यह अधिकार महान, वस्तु का प्रतिपादक।
आतम अभिराम जहान-, ज्ञेयों का ज्ञायक ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकाराय
मोक्ष-फल-प्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

अर्घ्य

यह अर्घ्य अनर्घ्य महान, लेकर मैं आया।
चरणों में अर्पित नाथ, करने को आया ॥

रे! यह अधिकार महान, वस्तु का प्रतिपादक।
आतम अभिराम जहान-, ज्ञेयों का ज्ञायक ॥

ॐ ह्रीं श्री जीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंगसमन्वित-श्रीजीवाजीवाधिकाराय
अनर्घ्य-पद-प्राप्तये-ऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

अर्घ्यावली

॥ पूर्वरंग ॥

(दोहा)

देहादिक से भिन्न जो, पर्यायों से पार।
ज्ञानस्वभावी आतमा, दे आनन्द अपार ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

नोट: इस विधान की अर्घ्यावली में समयसार की मूल गाथायें, आत्मख्याति में समागत कलश और इन सबके डॉ. भारिल्ल कृत पद्यानुवादों का प्रयोग किया गया है। इनकी विस्तृत व्याख्या के लिये डॉ. भारिल्ल कृत ज्ञायकभाव प्रबोधिनी टीका का स्वाध्याय करें।

सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मख्याति टीका के मंगलाचरण में तीन कलशों के माध्यम से 'भगवान आत्मा व अनेकान्तमयी जिनवाणी माता को नमस्कार करके, टीका लिखने का प्रयोजन' प्रगट करते हैं -

(दोहा)

निज अनुभूति से प्रगट, चित्स्वभाव चिद्रूप ।

सकलज्ञेय-ज्ञायक नमौ, समयसार सद्रूप ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं आत्मख्याति-मंगलाचरणयुक्त-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ १ ॥

(सोरठा)

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आतमा ।

अनेकान्तमय-मूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं अनेकान्तमूर्तये श्रीसरस्वतीदेव्यैः नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

(रोला)

यद्यपि मैं तो शुद्ध मात्र चैतन्यमूर्ति हूँ,

फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से ।

परम विशुद्धि को पावे वह परिणति मेरी,

समयसार की आत्मख्याति नामकव्याख्या से ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं परमविशुद्धिप्रदायक-श्रीआत्मख्यातये नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ३ ॥

अब, आचार्य कुन्दकुन्ददेव विरचित समयसार की मूल गाथाएँ प्रारम्भ होती हैं; सर्वप्रथम मूल समयसार ग्रन्थ के मंगलाचरण में आचार्यदेव, 'सर्व सिद्धों को नमस्कार' करते हैं -

(अनुष्टुभ्)

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते ।

चित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ १ ॥

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं, पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।

अनेकान्तमयी मूर्तिः, नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

(मालिनी)

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः, भवतु समयसारव्याख्यैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

(हरिगीत)

ध्रुव अचल अनुपमसिद्ध की, करवन्दना में स्व-पर हित।

यह समयप्राभृत कह रहा, श्रुतकेवली द्वारा कथित ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं मंगलस्वरूप-श्रीसर्वसिद्धेभ्यो नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

अब, 'समय के दो भेद - स्वसमय-परसमय का स्वरूप' बताते हैं -

(हरिगीत)

सद्ज्ञान-दर्शन-चरित-परिणत, जीव ही हैं स्वसमय।

जो कर्म-पुद्गल के प्रदेशों, में रहें वे परसमय ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं स्व-परसमयप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ५ ॥

अब कहते हैं कि 'समय के एकत्व में द्विविधता या बन्ध, शोभनीय नहीं' है -

(हरिगीत)

एकत्व-निश्चयगत समय, सर्वत्र सुन्दर लोक में।

विसंवाद है पर बन्ध की, यह कथा ही एकत्व में ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं एकत्वनिश्चयगत-समयप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.. ॥ ६ ॥

अब, दो गाथाओं में 'एकत्व-विभक्त - भगवान आत्मा की अत्यन्त दुर्लभता बताकर, उसी को साक्षात् दिखाने की प्रतिज्ञा' करते हैं -

(हरिगीत)

सबकी सुनी अनुभूत परिचित, भोग बन्धन की कथा।

पर से पृथक् एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभ ना ॥ ४ ॥

(गाथा)

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥ १ ॥

जीवो चरित्तदंसणणाणट्टिदो तं हि ससमयं जाण।

पोग्गलकम्मपदेसट्टिदं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।

बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ॥ ३ ॥

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

निज विभव से एकत्व ही, दिखला रहा करना मनन ।

पर नहीं करना छल-ग्रहण, यदि हो कहीं कुछ स्खलन ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं एकत्वविभक्तात्मनः दुर्लभत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं...॥७॥

अब, दो गाथाओं में 'भगवान आत्मा का वास्तविक स्वरूप' बताते हैं-

(हरिगीत)

न अप्रमत्त है न प्रमत्त है, बस! एक ज्ञायकभाव है ।

इस भाँति कहते शुद्ध, पर जो ज्ञात वह तो वही है ॥ ६ ॥

दृग-ज्ञान-चारित जीव के हैं - यह कहा व्यवहार से ।

ना ज्ञान-दर्शन-चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं प्रमत्ताऽप्रमत्तपर्यायभेद-गुणभेदरहित-शुद्धज्ञायकभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥८॥

अब, तीन गाथाओं में 'व्यवहारनय की उपयोगिता बताकर, उसका निश्चय-प्रतिपादक-स्वरूप, श्रुतकेवली के उदाहरण' द्वारा समझाते हैं -

(हरिगीत)

अनार्य भाषा के बिना, समझा सकें न अनार्य को ।

बस! त्योंहि समझा सकें ना, व्यवहार बिन परमार्थको ॥ ८ ॥

श्रुतज्ञान से जो जानते हैं, शुद्ध केवल आत्मा ।

श्रुतकेवली उनको कहें, ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥ ९ ॥

(गाथा)

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।

जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेतत्वं ॥ ५ ॥

ण वि होदि अप्पमतो ण पमतो जाणगो दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ॥ ६ ॥

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।

ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।

तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।

तं सुदकेवलमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥ ९ ॥

जो सर्वश्रुत को जानते, उनको कहें श्रुतकेवली।

सब ज्ञान ही है आतमा, बस! इसलिए श्रुतकेवली ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारनयस्य परमार्थप्रतिपादकत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १॥

अब, दो गाथाओं में 'व्यवहार की अभूतार्थता, निश्चय की भूतार्थता
और व्यवहार की उपयोगिता कहाँ है, कहाँ नहीं' - यह बताते हैं -

(हरिगीत)

शुद्धनय भूतार्थ है, अभूतार्थ है व्यवहारनय ।

भूतार्थ की ही शरण गह, यह आतमा सम्यक् लहे ॥ ११ ॥

परमभाव को जो प्राप्त हैं, वे शुद्धनय ज्ञातव्य हैं ।

जो रहें अपरमभाव में, व्यवहार से उपदिष्ट हैं ॥ १२ ॥

ॐ ह्रीं निश्चय-व्यवहारयोः भूतार्थ-अभूतार्थत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १० ॥

बारहवीं गाथा की टीका के अन्तर्गत आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने निम्न
गाथा को सन्दर्भित कर, 'निश्चय-व्यवहारनों की उपयोगिता' बतलाई है -

(हरिगीत)

यदि चाहते हो जैनदर्शन, प्रवतज्ञना जगत में ।

व्यवहार-निश्चयनों में से, किसी को छोड़ो नहीं ॥

व्यवहारनय बिन तीर्थका, अर नियतनय बिन तत्त्व का ।

ही लोप होगा इसलिए, तुम किसी को छोड़ो नहीं ॥

ॐ ह्रीं निश्चय-व्यवहारनयोपयोगिता-प्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ ११ ॥

जो सुदणाणं सत्त्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।

णाणं अप्पा सत्त्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ॥ १० ॥

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।

भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ ११ ॥

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभाव दरिसीहिं ।

ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे द्विदा भावे ॥ १२ ॥

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।

एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

इस प्रकार बारह गाथाओं में 'समयसार की पीठिका' लिखने के बाद चार कलशों में 'स्याद्वाद एवं निश्चय-व्यवहारनों का महत्त्व बताकर, आगामी गाथाओं की उत्थानिका भी कलश में ही लिखते हैं' -

(रोला)

उभयनयों में जो विरोध है, उसके नाशक।

स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं।

मोह-वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय।

स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं श्री स्याद्वादमयी-जिनवाणीभ्यो नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१२॥

ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों।

उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में।

पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को।

जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारस्य भूतार्थ-अभूतार्थत्वरूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥१३॥

(हरिगीत)

नियत है जो स्वयं के, एकत्व में नय शुद्ध से।

वह ज्ञान का घनपिण्ड पूरण, पृथक् है परद्रव्य से ॥

नव तत्त्व की सन्तति तज बस! एक यह अपनाइए।

इस आतमा का दर्श दर्शन, आतमा ही ध्याइए ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं शुद्धनयप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१४॥

(मालिनी)

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके, जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।

तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं, परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥ ५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो, व्यासुर्यदस्यात्मनः;

पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह, द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं;

तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ ६ ॥

(दोहा)

शुद्धनयाश्रित आतमा, प्रगटे ज्योतिस्वरूप ।

नव तत्त्वों में व्याप्त पर, तजे न एक स्वरूप ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं शुद्धनयाश्रित-प्रत्यग्ज्योतिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं ... ॥ १५ ॥

अब, 'भूतार्थनय / शुद्धनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं;' -
ऐसा विषय-विषयी का अभेद करके बताते हैं -

(हरिगीत)

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य, शिव-बन्ध संवर-निर्जरा ।

तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से, जाने हुए सम्यक्त्व हैं ॥ १३ ॥

ॐ ह्रीं नवतत्त्वगत-भूतार्थसम्यग्दर्शनप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १६ ॥

(रोला)

शुद्ध कनक ज्यों छिपा हुआ है बानभेद में ।

नव तत्त्वों में छिपी हुई त्यों आत्मज्योति है ॥

एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह ।

अरे भव्यजन! पद-पद पर तुम उसको जानो ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं विविक्ताऽऽत्मज्योतिप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.... ॥ १७ ॥

यहाँ, 'आत्मानुभूति की दशा का वर्णन' करते हैं -

(रोला)

निक्षेपों के चक्र विलय, नय नहीं जनमते ।

अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई! ॥

(अनुष्टुभ्)

अतः शुद्धनयायत्तं, प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।

नवतत्त्वगतत्वेऽपि, यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

(गाथा)

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च ।

आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

(मालिनी)

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं, कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।

अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं, प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

अधिक कहें क्या, द्वैतभाव भी भासित ना हो।

शुद्ध आतमा का अनुभव होने पर भाई! १॥ १॥

ॐ ह्रीं अद्वैतात्मानुभूतिप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥१८॥

अब, 'शुद्धनय का स्वरूप बताते हुए आगामी गाथा का सूचक कलश' कहते हैं - (हरिगीत)

परभाव से जो भिन्न है अर, आदि-अन्त विमुक्त है।

संकल्प और विकल्प के, जंजाल से भी मुक्त है॥

जो एक है परिपूर्ण है - ऐसे निजात्मस्वभाव को।

करके प्रकाशित प्रगट होता, है यहाँ यह शुद्धनय ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं शुद्धनयस्वरूपप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥१९॥

अब, 'शुद्धनय के माध्यम से बद्ध-स्पृष्टादि भावों की अभूतार्थता' बताते हैं - (हरिगीत)

अबद्धपुट्ट अनन्य नियत, अविशेष जाने आत्म को।

संयोग-विरहित भी कहे जो, शुद्धनय उसको कहें ॥ १४ ॥

ॐ ह्रीं शुद्धात्मस्वरूपप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥२०॥

अब, 'बद्ध-स्पृष्टादि भावों की अभूतार्थता बताकर आत्मानुभव की प्रेरणा' देते हैं -

पावें न जिसमें प्रतिष्ठा, बस! तैरते हैं बाह्य में।

ये बद्ध-स्पृष्टादि सब, जिसके न अन्तरभाव में॥

जो है प्रकाशित चतुर्दिक, उस एक आत्मस्वभाव का।

हे जगज्जन! तुम नित्य ही, निर्मोह हो अनुभव करो ॥ ११ ॥

(मालिनी)

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्यो याति निक्षेपचक्रम्।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

(उपजाति)

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।

विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥ १० ॥

(गाथा)

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं अणण्णयं णियदं।

अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरितरंतोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।

अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात् जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥ ११ ॥

ॐ ह्रीं आत्मानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥२१॥

अब, 'आत्मा को देव संज्ञा से सम्बोधित करते हैं' -

(रोला)

अपने बल से मोह नाशकर भूत-भविष्यत्-।

वर्तमान के कर्म-बन्ध से भिन्न लखे बुध! ॥

तो निज अनुभवगम्य आतमा सदा विराजित।

विरहित कर्मकलंकपंक से 'देव' शाश्वत ॥ १२ ॥

ॐ ह्रीं कारणपरमात्मस्वरूपप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥२२॥

अब, 'आत्मानुभूति को ही ज्ञानानुभूति बताकर, आगामी गाथा की सूचना' देते हैं -

(रोला)

शुद्धनयातम आतम की अनुभूति कही जो।

वह ही है ज्ञानानुभूति तुम यही जानकर।

आतम में आतम को निश्चल थापित करके।

सर्व ओर से एक ज्ञानघन आतम निरखो ॥ १३ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानानुभूतिप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥२३॥

अब, 'आत्मानुभूति करके, आत्मा को देखनेवाला ही सर्व जिनशासन को देखता / जानता है,' यह कहते हैं -

(हरिगीत)

अबद्धपुट्ट अनन्य अरु, अविशेष जाने आत्म को।

द्रव्य एवं भावश्रुतमय, सकल जिनशासन लहे ॥ १५ ॥

ॐ ह्रीं श्री जिनशासनसर्वस्वभूत-शुद्धनयप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.. ॥२४॥

(शार्दूलविक्रीडित)

भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी-

र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति, व्याहत्य मोहं हठात्।

आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा, व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवः;

नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो, देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

(वसन्ततिलका)

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या, ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।

आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्पमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥ १३ ॥

(गाथा)

जो परसदि अप्पाणं अबद्धपुट्टुं अणणमविसेसं।

अपदेससंतमज्झं परसदि जिणसासणं सत्वं ॥ १५ ॥

अब, 'ऐसी अभेद अखण्ड चैतन्यस्वरूप आत्मा ही हमें प्राप्त हो', ऐसी भावना एक कलश में प्रगट करते हैं -

(रोला)

खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है।
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है॥
अन्तर-बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल।
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो॥ १४ ॥

ॐ ह्रीं अखण्डचैतन्याऽऽत्म-स्वरूपप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥२५॥

अब, प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि 'परमात्मपद की प्राप्ति हेतु एक आत्मा ही साधने योग्य है' -

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की, ना चित्त को भरमाइये।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय, आतमा अपनाइये॥
बस! साध्य-साधक भाव से, इस एक को ही ध्याइये।
अर आप भी पर्याय में, परमात्मा बन जाइये॥१५॥

ॐ ह्रीं परमात्मपदप्रापक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा॥२६॥

अब, 'निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप बताते हुए प्रेरणा' देते हैं -

(हरिगीत)

चारित्र-दर्शन-ज्ञान को, सब साधुजन सेवें सदा।
ये तीन ही हैं आतमा, बस! कहे निश्चयनय सदा॥ १६ ॥

ॐ ह्रीं भेदाऽभेदरत्नत्रयप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा॥२७॥

(पृथ्वी)

अखण्डितमनाकुलं, ज्वलदन्तमन्तर्बहिः,
महः परममस्तु नः, सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं, सकलकालमालम्बते,
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्॥ १४ ॥

(अनुष्टुभ)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥ १५ ॥

(गाथा)

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥ १६ ॥

अब, आगामी कलशों में यह बताते हैं कि 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र और प्रमाण-नय से आत्मा की क्या स्थिति है और हमें क्या करना चाहिए?' -

मेचक कहा है आतमा, दृग-ज्ञान अर आचरण से।
 यह एक निज परमात्मा, बस! है अमेचक स्वयं से॥
 परमाण से मेचक-अमेचक, एक ही क्षण में अहा!
 यह अलौकिक मर्मभेदी, वाक्य जिनवर ने कहा ॥ १६ ॥
 आतमा है एक यद्यपि, किन्तु नय-व्यवहार से।
 त्रैरूपता धारण करे, सद्-ज्ञान-दर्शन-चरण से॥
 बस! इसलिए मेचक कहा है, आतमा जिनमार्ग में।
 अर इसे जाने बिन जगत् जन, ना लगे सन्मार्ग में॥ १७ ॥
 आतमा मेचक कहा है, यद्यपि व्यवहार से।
 किन्तु वह मेचक नहीं है, अमेचक परमार्थ से॥
 है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय, वह एक है भूतार्थ से।
 है शुद्ध एकाकार, पर से भिन्न है, परमार्थ से॥ १८ ॥
 मेचक-अमेचक आतमा के, चिन्तवन से लाभ क्या?
 बस करो अब तो इन विकल्पों से तुम्हें है साध्य क्या?॥
 हो साध्य-सिद्धि एक बस! सद्-ज्ञान-दर्शन-चरण से।
 पथ अन्य कोई है नहीं, जिससे बचे संसरण से॥ १९ ॥

ॐ ह्रीं दर्शनज्ञानचारित्र-भेदाऽभेदप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं...॥२८॥

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् ।
 मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥ १६ ॥
 दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
 एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥
 परमार्थेन तु व्यक्तज्ञानृत्वज्योतिषैककः ।
 सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥
 आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
 दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

अब, दो गाथाओं में 'उदाहरण सहित रत्नत्रय धारण करने की प्रेरणा' देते हैं - (हरिगीत)

'यह नृपति है' - यह जानकर, अर्थार्थिजन श्रद्धा करें।
अनुचरण उनका ही करें, अति प्रीति से सेवा करें ॥ १७ ॥
यदि मोक्ष की है कामना, तो जीव-नृप को जानिए।
अति प्रीति से अनुचरण करिए, प्रीति से पहिचानिए ॥ १८ ॥

ॐ ह्रीं मोक्षोपायप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ २९ ॥

अब, 'रत्नत्रय में भी एकता स्थापित करते हुए कलश' कहते हैं -
त्रैरूपता को प्राप्त है पर, ना तजे एकत्व को।
यह शुद्ध निर्मल आत्म-ज्योति, प्राप्त है जो स्वयं को ॥
अनुभव करें हम सतत ही, चैतन्यमय उस ज्योति का।
क्योंकि उसके बिना जग में, साध्य की हो सिद्धि ना ॥ २० ॥

ॐ ह्रीं अभेदात्मानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ३० ॥

अब, 'यह आत्मा, कब तक अज्ञानी - अप्रतिबुद्ध रहता है?' यह मूल गाथा द्वारा बताते हैं - (हरिगीत)

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या, हैं हमारे ये सभी।
यह मान्यता जब तक रहे, अज्ञानी हैं तब तक सभी ॥ १९ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञानस्वरूपप्रतिपादक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ३१ ॥

(गाथा)

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्धहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्धहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥ १८ ॥

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया, अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं, न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

(गाथा)

कम्मे णोकम्ममिह य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥ १९ ॥

अब, 'भेदज्ञानमूलक आत्मानुभूति को किसी भी प्रकार से प्राप्त करने की प्रेरणा' देते हैं -

(रोला)

जैसे भी हो स्वतः अन्य के उपदेशों से।

भेदज्ञानमूलक अविचल अनुभूति हुई हो ॥

ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी।

अरे निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी ॥ २१ ॥

ॐ ह्रीं भेदज्ञानमूलकात्मानुभूतिप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ ३२ ॥

अब, 'अज्ञानी की पहचान बतानेवाले विकल्पों को चिह्नित करते हैं' -

(हरिगीत)

सचित्त और अचित्त एवं, मिश्र सब परद्रव्य ये।

हैं मेरे ये मैं इनका हूँ, ये मैं हूँ या मैं हूँ वे ही ॥ २० ॥

हम थे सभी के, या हमारे थे सभी, गत काल में।

हम होंयेंगे उनके, हमारे वे अनागत काल में ॥ २१ ॥

ऐसी असम्भव कल्पनाएँ, मूढ़जन नित ही करें।

भूतार्थ-ज्ञाननहार जन, ऐसे विकल्प नहीं करें ॥ २२ ॥

ॐ ह्रीं अप्रतिबुद्धलक्षणप्रतिपादक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यनि. स्वाहा ॥ ३३ ॥

अब, 'अनादिकालीन मोह को तत्काल छोड़ने की प्रेरणा' देते हैं -

(मालिनी)

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।

प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैर्मुकुरवदविकाराः सन्ततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।

अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २० ॥

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहंपि आसि पुव्वं हि।

होहिदि पुणो ममेदं एदस्सं अहं पि होस्सामि ॥ २१ ॥

एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।

भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥ २२ ॥

(हरिगीत)

आजन्म के इस मोह को हे जगत् जन! तुम छोड़ दो ।
 अर रसिकजन को जो रुचे, उस ज्ञान के रस को चखो ॥
 तादात्म्य पर के साथ जिनका, कभी भी होता नहीं ।
 अर स्वयं का ही स्वयं से, अन्यत्व भी होता नहीं ॥ २२ ॥

ॐ ह्रीं मोहनाशप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥३४॥

अब, तीन गाथाओं के द्वारा 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव, स्वयं सर्वज्ञान का उल्लेख करते हुए अप्रतिबुद्ध को समझाने का प्रयत्न' करते हैं -

(हरिगीत)

अज्ञान-मोहित-मती बहुविध, भाव से संयुक्त जिय ।
 अबद्ध एवं बद्ध पुद्गल, द्रव्य को अपना कहे ॥ २३ ॥
 सर्वज्ञ ने देखा सदा, उपयोग लक्षण जीव यह ।
 पुद्गलमयी हो किसतरह, किसतरह तू अपना कहे? ॥ २४ ॥
 जीवमय पुद्गल तथा, पुद्गलमयी हो जीव जब ।
 'ये मेरे पुद्गलद्रव्य हैं' - यह कहा जा सकता है तब ॥ २५ ॥

ॐ ह्रीं अप्रतिबुद्धबोधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥३५॥

अब, 'किसी भी प्रकार से निजात्मतत्त्व का कौतूहली बनने हेतु शरीर के साथ पडौसी जैसा व्यवहार करने की प्रेरणा देते हैं' -

(मालिनी)

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं, रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
 इह कथमपि नात्मा नात्मना साकमेकः, किल किलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥ २२ ॥

(गाथा)

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं ।
 बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥ २३ ॥
 सव्वणहुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
 कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥ २४ ॥
 जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
 तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं ॥ २५ ॥

(हरिगीत)

निजतत्त्व का कौतूहली अर, पड़ौसी बन देह का ।
हे आत्मन्! जैसे बने, अनुभव करो निजतत्त्व का ॥
जब भिन्न पर से सुशोभित लख, स्वयं को तब शीघ्र ही।
तुम छोड़ दोगे देह से, एकत्व के इस मोह को ॥ २३ ॥

ॐ ह्रीं आत्मानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥३६॥

अब यहाँ 'अप्रतिबुद्ध, व्यवहार-स्तुति के माध्यम से अपना पक्ष रखता है और टीकाकार उसे समझाने हेतु उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

(हरिगीत)

यदि देह ना हो जीव तो, तीर्थकरों का स्तवन ।
सब असत् होगा इसलिए, बस! देह ही है आत्मा ॥ २६ ॥

(हरिगीत)

लोक-मानस रूप से, रवि-तेज अपने तेज से ।
जो हरे निर्मल करें दश-दिश, कान्तिमय तन-तेज से ॥
जो दिव्यध्वनि से भव्यजन, के कान में अमृत भरें ।
उन सहस्र अठलक्षण सहित, जिन-सूर को वन्दन करें ॥ २४ ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारस्तुतिपोषक-पूर्वपक्षप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३७॥

(मालिनी)

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्, अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन, त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥ २३ ॥

(गाथा)

जदि जीवो ण सरीरं तिथ्यरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥ २६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कांत्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरंधन्ति ये ।
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ॥
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं ।
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४ ॥

अब, चार गाथाओं में 'अप्रतिबुद्ध की शंका का समाधान, नय-विभाग से करते हैं' - (हरिगीत)

'देह-चेतन एक हैं' - यह वचन है व्यवहार का ।

'ये एक हो सकते नहीं' - यह कथन है परमार्थ का ॥ २७ ॥

इस आतमा से भिन्न पुद्गल, रचित तन का स्तवन ।

कर मानना कि हो गया है, केवली का स्तवन ॥ २८ ॥

परमार्थ से सत्यार्थ ना, वह केवली का स्तवन ।

केवलि-गुणों का स्तवन ही, केवली का स्तवन ॥ २९ ॥

वर्णन नहीं है नगरपति का, नगर-वर्णन जिस तरह ।

केवली-वन्दन नहीं है, देह-वन्दन उस तरह ॥ ३० ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारस्तुतिप्रतिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥३८॥

अब, 'पूर्व गाथा में कथित नगर-वर्णन एवं जिनेन्द्र-वर्णन के सम्बन्ध में उदाहरण-स्वरूप दो कलश' कहते हैं -

(हरिगीत)

प्राकार से कवलित किया, जिस नगर ने आकाश को ।

अर गोल गहरी खाई से है, पी लिया पाताल को ॥

सब भूमितल को ग्रस लिया, उपवनों के सौन्दर्य से ।

अद्भुत अनूपम अलग ही है, वह नगर संसार से ॥ २५ ॥

(गाथा)

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।

ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ॥ २७ ॥

इणमण्णं जीवादो देहं पोव्वगलमयं थुणित्तु मुणी ।

मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥ २८ ॥

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।

केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥ २९ ॥

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।

देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

(आर्या)

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।

पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥ २५ ॥

गम्भीर सागर के समान, महान मानस मंग हैं ।
 नित्य निर्मल निर्विकारी, सुव्यवस्थित अंग हैं ॥
 सहज ही अद्भुत अनूपम, अपूरव लावण्य है ।
 क्षोभ-विरहित अर अचल, जयवन्त जिनवर अंग है ॥ २६ ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारस्तुतिसमर्थक-दृष्टान्तप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥३९॥

अब, आचार्यदेव, तीन गाथाओं में 'ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष, भाव्य-भावक संकर दोष का परिहार एवं भाव्य-भावकभाव का अभाव करके, प्रगट होनेवाली तीन प्रकार की निश्चय स्तुति का स्वरूप' बताते हैं -

(हरिगीत)

जो इन्द्रियों को जीत जाने, ज्ञानमय निज आतमा ।
 वे हैं जितेन्द्रिय जिन कहें, परमार्थ-साधक आतमा ॥ ३१ ॥
 मोह को जो जीत जाने, ज्ञानमय निज आतमा ।
 जितमोह जिन उनको कहें, परमार्थ-ज्ञायक आतमा ॥ ३२ ॥
 सब मोह-क्षय हो जाय जब, जितमोह सम्यक्श्रमण का ।
 तब क्षीणमोही जिन कहें, परमार्थ-ज्ञायक आतमा ॥ ३३ ॥

ॐ ह्रीं निश्चयस्तुतिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥४०॥

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
 अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥ २६ ॥

(गाथा)

जो इन्द्रिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
 तं खलु जिदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥ ३१ ॥
 जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
 तं जिदमोहं साहुं परमदुवियाणया बेति ॥ ३२ ॥
 जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
 तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥ ३३ ॥

अब, दो कलशों में 'व्यवहार-निश्चय स्तुति' के इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं - (हरिगीत)

इस आतमा अर देह का, एकत्व बस! व्यवहार से।
यह शरीराश्रित स्तवन भी, इसलिए व्यवहार से ॥
परमार्थ से स्तवन है, चिद्भाव का ही अनुभवन।
परमार्थ से तो भिन्न ही हैं, देह अर चैतन्यघन ॥ २७ ॥

इस आतमा अर देह के, एकत्व को नय-युक्ति से।
निर्मूल ही जब कर दिया, तत्त्वज्ञ मुनिवरदेव ने ॥
यदि भावना है भव्य तो फिर, क्यों नहीं सदबोध हो।
भावोल्लसित आत्मार्थियों को, नियम से सदबोध हो ॥ २८ ॥

ॐ ह्रीं व्यवहार-निश्चयस्तुति-प्रकरणोपसंहारक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥४१॥

अब, दो गाथाओं एवं एक कलश में 'सम्यग्ज्ञान ही प्रत्याख्यान है' यह सोदाहरण समझाते हैं - (हरिगीत)

परभाव को पर जानकर, परित्याग उनका जब करे।
तब त्याग हो बस! इसलिए ही, ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥ ३४ ॥
जिसतरह कोई पुरुष, 'पर' यह जानकर, 'पर' परित्यजे।
बस! उस तरह 'पर' जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे ॥ ३५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः, कायाऽऽत्मनोर्निश्चयात्,
नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः, स्तुत्या न तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्, स्तुत्यैव सैवं भवत्,
नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माऽंगयोः ॥ २७ ॥

(मालिनी)

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां, नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य, स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

(गाथा)

सत्त्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेद्वं ॥ ३४ ॥
जह णाम को वि पुरिसो परद्व्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सत्त्वे परभावे णाऊण विमुच्चदे णाणी ॥ ३५ ॥

(हरिगीत)

परभाव के परित्याग की, दृष्टि पुरानी न पड़े ।
अर जबतलक हे आत्मन्! वृत्ति न हो अतिबलवती ॥
व्यतिरिक्त जो परभाव से, वह आत्मा अतिशीघ्र ही ।
अनुभूति में उतरा अरे! चैतन्यमय वह स्वयं ही ॥ २९ ॥

ॐ ह्रीं निश्चयप्रत्याख्यानप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.... ॥४२॥

अब, एक गाथा एवं एक कलश के द्वारा 'पौद्गलिकमोहादि भावकभावरूप परभावों से भेदज्ञान कराने की विधि का प्रयोग' कराते हैं -

(हरिगीत)

मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जानें समय ॥ ३६ ॥

(हरिगीत)

सब ओर से चैतन्यमय, निजभाव से भरपूर हूँ ।
मैं स्वयं ही इस लोक में, निजभाव का अनुभव करूँ ॥
यह मोह मेरा कुछ नहीं, चैतन्य का घनपिण्ड हूँ ।
हूँ शुद्ध चिद्घन महानिधि मैं, स्वयं एक अखण्ड हूँ ॥ ३० ॥

ॐ ह्रीं भावकभावभेदज्ञानप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति
स्वाहा ॥४३॥

(मालिनी)

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्ट्यन्तदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता, स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

(गाथा)

पात्थि मम को वि मोहो बुज्झादि उवओण एव अहमेक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेत्ति ॥ ३६ ॥

(स्वागता)

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं, चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः, शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३० ॥

अब, एक गाथा के द्वारा 'धर्मादि ज्ञेयरूप परभावों से भेदज्ञान कराने की विधि का प्रयोग' करते हैं -

(हरिगीत)

धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।

है धर्म-निर्ममता यही वे कहें जो जानें समय ॥ ३७ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञेयभावभेदज्ञानप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥४४॥

अब यहाँ, 'भेदज्ञान के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली आत्मानुभूति की प्रशंसा' करते हैं -

(हरिगीत)

बस! इस तरह सब अन्य भावों, से हुई जब भिन्नता ।

तब स्वयं को उपयोग ने, स्वयमेव ही धारण किया ॥

प्रकटित हुआ परमार्थ अर, दृग-ज्ञान-वृत परिणत हुआ ।

तब आतमा के बाग में, आतम रमण करने लगा ॥ ३१ ॥

ॐ ह्रीं श्री भेदज्ञानफलप्ररूपक-श्रीसमयसारायनमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥४५॥

अब, 'आत्मानुभूति में होनेवाले आत्म-संचेतन का स्वरूप' बताते हैं -

(हरिगीत)

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित, शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।

ये अन्य सब परद्रव्य किंचित्, मात्र भी मेरे नहीं ॥ ३८ ॥

ॐ ह्रीं आत्मस्वरूपसंचेतनप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः निर्वपामीति अर्घ्यं स्वाहा ॥४६॥

(गाथा)

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।

तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेत्ति ॥ ३७ ॥

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके, स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।

प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः, कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

(गाथा)

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी ।

ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ॥ ३८ ॥

यहाँ, 'समस्त जगत् को भी ज्ञान-समुद्र भगवान आत्मा में स्नान करने की प्रेरणा देते हुए 'पूर्वरंग' का समापन' करते हैं -

(हरिगीत)

सुख-शान्तरस से लबालब यह, ज्ञानसागर आत्मा ।
विभ्रम की चादर हटा, सर्वांग परगट आत्मा ॥
हे भव्यजन! इस लोक के, सब एक साथ नहाइये ।
अर इसे ही अपनाइये, इसमें मगन हो जाइये ॥ ३२ ॥

ॐ ह्रीं स्वरूपसंचेतनप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥४७॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

॥ जीव-अजीव अधिकार ॥

(दोहा)

वर्णादि रागादि से है यह आत्म भिन्न ।
शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यमय और अखण्ड अनन्य ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

इस अधिकार के प्रारम्भ में सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्रदेव, आत्मख्याति टीका में 'जीव और अजीव को रंगमंच पर एकरूप में प्रस्तुत करके उस ज्ञान की महिमा करते हैं, जो जीव-अजीव का भेद जान लेता है' -

(सवैया इकतीसा)

जीव और अजीव के विवेक से है पुष्ट जो,
ऐसी दृष्टि द्वारा इस नाटक को देखता ।
अन्य जो सभासद हैं उन्हें भी दिखाता और,
दुष्ट अष्ट कर्मों के बन्धन को तोड़ता ॥

(वसन्ततिलका)

मज्जन्तु निर्भ्रममी सममेव लोका, आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण, प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥ ३२ ॥

जाने लोकालोक को पै निज में मगन रहे,
विकसित शुद्ध नित्य निज अवलोकता।
ऐसो ज्ञानवीर धीर मंग भरे मन में,
स्वयं ही उदात्त और अनाकुल सुशोभता ॥ ३३ ॥

ॐ ह्रीं जीवाऽजीवभेदज्ञापक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥४८॥

यहाँ सर्वप्रथम 'मूढ़ अज्ञानी जीव की, आत्मा के सम्बन्ध में आठ मिथ्या मान्यताओं का निषेध करने के उद्देश्य से, उनका वर्णन' पाँच गाथाओं में करते हैं - (हरिगीत)

परात्मवादी मूढ़जन, निज आत्मा जानें नहीं।
अध्यवसान को आत्म कहें, या कर्म को आत्म कहें ॥ ३९ ॥
अध्यवसानगत जो तीव्रता, या मन्दता वह जीव है।
पर अन्य कोई यह कहे, नोकर्म ही बस! जीव है ॥ ४० ॥
मन्द अथवा तीव्रतम जो, कर्म का अनुभाग है;
वह जीव है या कर्म का जो उदय है वह जीव है ॥ ४१ ॥
द्रव्यकर्म का अर जीव का, सम्मिलन ही बस जीव है।
अथवा कहे कोइ करम का, संयोग ही बस! जीव है ॥ ४२ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा, प्रत्याययत्पार्षदान्;
आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्माराममनन्तधाममहसाध्यक्षेण नित्योदितं;
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥ ३३ ॥

(गाथा)

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेत्ति ॥ ३९ ॥
अवरे अज्झवसाणोसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥ ४० ॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तण गुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥ ४१ ॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥ ४२ ॥

बस! इसतरह दुर्बुद्धिजन, पर-वस्तु को आतम कहें ।

परमार्थवादी वे नहीं, परमार्थवादी यह कहें ॥ ४३ ॥

ॐ ह्रीं पराऽत्मवादी-प्रतिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ४९ ॥

अब, दो गाथाओं में उक्त 'आठ मान्यताओं का खण्डन करते हुए अध्यवसानादि भावों को पौद्गलिक बताते हैं' -

(हरिगीत)

ये भाव सब पुद्गल-दरव-परिणाम से निष्पन्न हैं ।

यह कहा है जिनदेव ने 'ये जीव हैं' कैसे कहें? ॥ ४४ ॥

अष्टविध सब कर्म, पुद्गलमय कहे जिनदेव ने ।

सब कर्म का परिणाम, दुःखमय यह कहा जिनदेव ने ॥ ४५ ॥

ॐ ह्रीं अध्यवसानादिभावान् पुद्गलप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.. ॥ ५० ॥

यहाँ, आचार्यदेव 'छह माह तक निरन्तर आत्मानुभव का अभ्यास पर उसकी प्राप्ति होना सुनिश्चित करते हुए उसकी प्रेरणा' करते हैं -

(हरिगीत)

हे भव्यजन! क्या लाभ है, इस व्यर्थ के बकवाद से ।

अब तो रुको निज को लखो, अध्यात्म के अभ्यास से ॥

यदि अनवरत छह मास हो, निज आतमा की साधना ।

तो आतमा की प्राप्ति हो, सन्देह इसमें रंच ना ॥ ३४ ॥

ॐ ह्रीं आत्मानुभवाभ्यासप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ५१ ॥

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।

ते ण परमट्टवादी णिच्छयवादीहिं णिद्धिट्ठा ॥ ४३ ॥

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।

केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो ति वुच्चंति ॥ ४४ ॥

अट्टविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति ।

जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥ ४५ ॥

(मालिनी)

विरम किमपरेणाऽकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।

हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥ ३४ ॥

अब, 'अध्यवसानादि भावों को व्यवहार से जीव कह सकते हैं' - ऐसा सोदाहरण तीन गाथाओं में कहते हैं -

(हरिगीत)

ये भाव सब हैं जीव के, जो यह कहा जिनदेव ने।
व्यवहारनय का पक्ष यह, प्रस्तुत किया जिनदेव ने ॥ ४६ ॥
सेना सहित नरपती निकले, 'नृप चला' ज्यों जन कहें।
- यह कथन है व्यवहार का, पर नृपति उनमें एक है ॥ ४७ ॥
बस! उसतरह ही सूत्र में, व्यवहार से इन सभी को।
जीव कहते किन्तु इनमें, जीव तो बस! एक है ॥ ४८ ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारजीवप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ५२ ॥

अब, जीव का वास्तविक स्वरूप, पंच परमागमों एवं जिनागम में अन्यत्र भी समागत 'अलिंगग्रहण' की सुप्रसिद्ध गाथा के द्वारा बताते हैं -

(हरिगीत)

चैतन्य गुणमय आतमा, अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे, यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥ ४९ ॥

ॐ ह्रीं परमार्थजीवप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ५३ ॥

अब, 'भगवान आत्मा के अनुभव की प्रेरणा' एक कलश में देते हैं -

(हरिगीत)

चैतन्यशक्ति से रहित, परभाव सब परिहार कर।
चैतन्यशक्ति से सहित, निजभाव नित अवगाह कर ॥

(गाथा)

ववहारस्स दरीसण - मुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥ ४६ ॥
राया हु णिग्गदो ति य एसो बलसमुदयस्य आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया ॥ ४७ ॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥ ४८ ॥
अरसमरूवमगंधं अत्तं चेदणागुणमसद्धं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्विसंठाणं ॥ ४९ ॥

है श्रेष्ठतम जो विश्व में, सुन्दर सहज शुद्धात्मा ।

अब उसी का अनुभव करो तुम, स्वयं हे भव्यातमा! ॥ ३५ ॥

ॐ ह्रीं आत्मानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥५४॥

अब, 'परमार्थ जीव से भिन्न, उनतीस भावों की पौद्गलिकता' को दो कलशों एवं छह गाथाओं द्वारा बताते करते हैं -

(दोहा)

चित् शक्ति सर्वस्व जिन, केवल वह है जीव ।

उसे छोड़कर और सब, पुद्गलमयी अजीव ॥ ३६ ॥

(हरिगीत)

शुद्ध जीव के रस-गन्ध ना, अर वर्ण ना स्पर्श ना ।

यह देह ना जड़रूप ना, संस्थान ना संहनन ना ॥ ५० ॥

ना राग है ना द्वेष है, ना मोह है इस जीव के ।

प्रत्यय नहीं है कर्म ना, नोकर्म ना इस जीव के ॥ ५१ ॥

ना वर्ग है ना वर्गणा, अर कोई स्पर्धक नहीं ।

अर नहीं है अनुभाग के, अध्यात्म के स्थान भी ॥ ५२ ॥

योग के स्थान नहीं, अर बन्ध के स्थान ना ।

उदय के स्थान नहीं, अर मार्गणास्थान ना ॥ ५३ ॥

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्वाय चिच्छक्तिरिक्तंस्फुटतस्मवगाह्यं स्वंच चिच्छक्तिमात्रम् ।

इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥ ३५ ॥

(अनुष्टुभ्)

चिच्छक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारो जीव इयानयम् ।

अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि, भावाः पौद्गलिका अमी ॥ ३६ ॥

(गाथा)

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधोण वि रसोण वि य फ़सो ।

ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।

णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फ़ड्डया केई ।

णो अज्झप्पट्टाणा णेव य अणुभागठाणाणि ॥ ५२ ॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्टाणा ण बंधठाणा वा ।

णेव य उदयट्टाणा ण मग्गणट्टाणया केई ॥ ५३ ॥

थितिबन्ध के स्थान नहिं, संक्लेश के स्थान ना ।
 संयमलब्धि के स्थान ना, सुविशुद्धि के स्थान ना ॥ ५४ ॥
 जीव के स्थान नहिं, गुणथान के स्थान ना ।
 क्योंकि ये सब भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं ॥ ५५ ॥

(दोहा)

वर्णादिक रागादि सब, हैं आतम से भिन्न ।
 अन्तर्दृष्टि देखिये, दिखे एक चैतन्य ॥ ३७ ॥

ॐ ह्रीं वर्णादिगुणस्थानपर्यन्तभावान् पुद्गलप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.. ॥५५॥

अब, 'निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का एक साथ प्रतिपादन' करते हैं -

(हरिगीत)

वर्णादि को व्यवहार से ही, कहा जाता जीव के ।
 परमार्थ से ये भाव भी, होते नहीं हैं जीव के ॥ ५६ ॥
 दूध-पानी की तरह, सम्बन्ध इनका जानना ।
 उपयोगमय इस जीव के, परमार्थ से ये हैं नहीं ॥ ५७ ॥
 पथिक लुटते देखकर, पथ लुट रहा जग-जन कहें ।
 पर पथ तो लुटता है नहीं, बस! पथिक ही लुटते रहें ॥ ५८ ॥

(गाथा)

णो ठिदिबन्धट्टाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
 णेव विसोहिट्टाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥
 णेव य जीवट्टाणा ण गुणट्टाणा य अत्थि जीवस्स ।
 जेण दु एदे सत्त्वे पोग्गलदत्त्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥

(शालिनी)

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा, भिन्ना भावाः सर्व एवाऽस्य पुंसः ।
 तेनैवाऽन्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी, नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥ ३७ ॥

(गाथा)

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवन्ति वण्णमादीया ।
 गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६ ॥
 एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदत्त्वो ।
 ण य होंति तस्स ताणि दु उवओग्गुणाधिगो जम्हा ॥ ५७ ॥
 पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
 मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥ ५८ ॥

उस ही तरह रंग देख कर, जड़कर्म अर नोकर्म का ।
जिनवर कहें व्यवहार से, यह वर्ण है इस जीव का ॥ ५९ ॥
इस ही तरह रस-गन्ध-तन-संस्थान आदिक जीव के ।
व्यवहार से हैं - कहें वे, जो जानते परमार्थ को ॥ ६० ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारजीवप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥५६॥

अब, 'जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है? - यह बताते हैं -

(हरिगीत)

जो जीव हैं संसार में, वर्णादि उनके ही कहे ।
जो मुक्त हैं संसार से, वर्णादि उनके हैं नहीं ॥ ६१ ॥
वर्णादिमय ही जीव है, तुम यदी मानो इस तरह ।
तब जीव और अजीव में, अन्तर करोगे किस तरह? ॥ ६२ ॥
मानो उन्हें वर्णादिमय, जो जीव हैं संसार में ।
तब जीव संसारी सभी, वर्णादिमय हो जायेंगे ॥ ६३ ॥
यदि लक्षणों की एकता से, जीव हों पुद्गल सभी ।
बस! इस तरह तो सिद्ध होंगे, सिद्ध भी पुद्गलमयी ॥ ६४ ॥

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥ ५९ ॥
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥ ६० ॥
तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥ ६१ ॥
जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥ ६२ ॥
अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥ ६३ ॥
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी ।
णिट्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ॥ ६४ ॥

एकेन्द्रियादिक प्रकृति हैं, जो नाम नामक कर्म की ।
पर्याप्तकेतर आदि एवं, सूक्ष्म-बादर आदि सब ॥ ६५ ॥
इनकी अपेक्षा कहे जाते, जीव के स्थान जो ।
कैसे कहें - 'वे जीव हैं', जब प्रकृतियाँ पुद्गलमयी ॥ ६६ ॥

(दोहा)

जिस वस्तु से जो बने, वह हो वही न अन्य ।
स्वर्ण-म्यान तो स्वर्ण है, असि है उससे अन्य ॥ ३८ ॥
वर्णादिक जो भाव हैं, वे सब पुद्गल जन्य ।
एक शुद्ध विज्ञानघन, आतम इनसे भिन्न ॥ ३९ ॥

ॐ ह्रीं वर्णादितादात्म्यनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥५७॥

अब, 'उपसंहार में पुनः निश्चय-व्यवहार से जीव-अजीव का स्वरूप
बताते हैं' - (हरिगीत)

पर्याप्तकेतर आदि एवं, सूक्ष्म-बादर आदि सब ।
जड़ देह की है 'जीव' संज्ञा, सूत्र में व्यवहार से ॥ ६७ ॥
मोहन-करम के उदय से, गुणथान जो जिनवर कहे ।
वे जीव कैसे हो सकें? जो नित अचेतन ही कहे ॥ ६८ ॥

(गाथा)

एककं च दोष्णि तिष्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा ।
बादरपज्जतिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ६५ ॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्टाणा उ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥ ६६ ॥

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित् तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥ ३८ ॥
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु, निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा, यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥ ३९ ॥

(गाथा)

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ६७ ॥
मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्टाणा ।
ते कह हवन्ति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८ ॥

(दोहा)

कहने से घी का घड़ा, घड़ा न घीमय होय ।
कहने से वर्णादिमय, जीव न तन्मय होय ॥ ४० ॥
स्वानुभूति में जो प्रगट, अचल अनादि अनन्त ।
स्वयं जीव चैतन्यमय, जगमगात अत्यन्त ॥ ४१ ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारनिश्चयप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि.स्वाहा ॥५८॥

अब, आगामी कलशों में 'जीव-अजीव को लक्षणों से जानकर भेदज्ञान करने की प्रेरणा देते हुए इस अधिकार का उपसंहार' करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

मूर्तिक-अमूर्तिक अजीव द्रव्य दो प्रकार,
इसलिए अमूर्तिक लक्षण न बन सके।
सोचकर विचारकर भलीभाँति ज्ञानियों ने,
कहा वह निर्दोष लक्षण जो बन सके।
अतिव्याप्ति-अव्याप्ति दोषों से विरहित,
चैतन्यमय उपयोग लक्षण है जीव का।
अतः अवलम्ब लो अविलम्ब इसका ही,
क्योंकि यह भाव ही है जीवन इस जीव का ॥ ४२ ॥

(अनुष्टुभ्)

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ४० ॥
अनाद्यनन्तमचलं, स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो ।
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ॥
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा ।
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम् ॥ ४२ ॥

(हरिगीत)

निज लक्षणों की भिन्नता से, जीव और अजीव को।
जब स्वयं से ही ज्ञानिजन, भिन्न-भिन्न ही हैं जानते ॥
जग में पड़े अज्ञानियों का, अमर्यादित मोह यह।
अरे! तब भी नाचता क्यों? खेद है आश्चर्य है ॥ ४३ ॥

अरे! काल अनादि से, अविवेक के इस नृत्य में।
बस! एक पुद्गल नाचता, चेतन नहीं इस कृत्य में ॥
यह जीव तो पुद्गलमयी, रागादि से भी भिन्न है।
आनन्दमय चिद्भाव तो, दृग-ज्ञानमय चैतन्य है ॥ ४४ ॥

जब इस तरह धारा-प्रवाही, ज्ञान का आरा चला।
तब जीव और अजीव में, अतिविकट विघटन हो चला ॥
अब जब तलक हों भिन्न, जीव-अजीव उसके पूर्व ही।
यह ज्ञान का घनपिण्ड निज, ज्ञायक प्रकाशित हो उठा ॥ ४५ ॥

ॐ ह्रीं जीवाजीवभेदज्ञानप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥५९॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(वसन्ततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं, ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं, मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥ ४३ ॥
अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये, वर्णादिमात्रटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध, चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा,
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्ब्रह्मक्तचिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥ ४५ ॥

जयमाला

(दोहा)

सुनो भव्य! अधिकार की, महिमा अपरम्पार ।
इसमें सब कुछ आ गया, जिनवाणी का सार ॥ १ ॥

जीवाजीव-अधिकार की, पूजन की सानन्द ।
जयमाला में जान लो, विषय-वस्तु आनन्द ॥ २ ॥

(हरिगीत)

वर्णादि अर रागादि जड़ से, आतमा की भिन्नता ।
का विशद वर्णन किया है रे! इस प्रथम अधिकार में ॥
वर्णादि अर रागादि से, एकत्व और ममत्व को ।
छोड़ने को कहा है रे! युक्ति से विस्तार से ॥ ३ ॥

वर्णादि अर रागादि में, एकत्व रे! जब तक रहे ।
अज्ञानी मिथ्यादृष्टि यह जिय, नियम से तब तक रहे ॥
स्वयं में एकत्व, पर से भिन्नता, की बात को ।
युक्ति से समझा रहे हैं, आतमा की बात को ॥ ४ ॥

न प्रमत्त है नाऽप्रमत्त है, न ज्ञान-दर्शन-चरित है ।
न बँधा है न छुआ है, अविशेष और अनन्य है ॥
संयोग विरहित एक ज्ञायकभाव आतम जानिये ।
भूतार्थ है परमार्थ उसकी शुद्धता पहिचानिये ॥ ५ ॥

धर्मादि ज्ञेयों से तथा, रागादि भावक-भाव से ।
निज आतमा की भिन्नता को जानिये निजभाव से ॥
जीव के रस-गन्ध ना, ना रूप है ना शब्द है ।
चेतना गुणवान आतम, अरे! पूर्ण पवित्र है ॥ ६ ॥

वर्णादि से गुणथान तक, कोई नहीं इस जीव के।
 ज्ञान-दर्शन जीव के, वर्णादि सभी अजीव के ॥
 यदि चाहते हो आतमा, तो स्वयं को पहिचानिये।
 स्वयं में रम जाइये अर, स्वयं में जम जाइये ॥ ७ ॥

(दोहा)

भविजन! जीवाजीव में, करो भेद-विज्ञान।
 फिर गहराई से करो, आतम की पहिचान ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं श्रीजीवाजीवतत्त्वप्रतिपादक-पूर्वरंग-समन्वित जीवाजीवाधिकाराय
 जयमाला पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

(दोहा)

जीवाजीवाधिकार में, है आतम की बात।
 एक आतमा जानिये, छोड़ जगत् की आश ॥९॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

चैतन्य लक्षण

जीव की पहिचान का असली चिह्न तो उपयोग ही है, ज्ञानदर्शनमय
 उपयोग ही है।

अतः आचार्यदेव आदेश देते हैं, उपदेश देते हैं, आग्रह करते हैं, अनुरोध
 करते हैं कि हे जगत के जीवो! तुम एक इस चैतन्यलक्षण का ही अवलम्बन
 लो, आश्रय करो; क्योंकि इस चैतन्यलक्षण से ही भगवान आत्मा की
 पहिचान होगी।

यह चैतन्यलक्षण स्वयं प्रगट है और त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा को
 प्रगट करने में पूर्ण समर्थ है तथा अचल है; इसकारण कभी चलायमान नहीं
 होता। अधिक क्या कहें - यह चैतन्यलक्षण जीव का जीवन ही है।

- समयसार ज्ञायकभाव प्रबोधिनी टीका, कलश ४२ का विशेषार्थ

कर्ता-कर्म अधिकार पूजन

स्थापना

(हरिगीत)

वर्णादि अर रागादि का, कर्ता नहीं है आतमा ।
 वर्णादि अर रागादि का, भोक्ता नहीं है आतमा ॥
 कर्ता नहीं भोक्ता नहीं, स्वामी नहीं यह आतमा ।
 किसी से लेता नहीं, देता नहीं कुछ आतमा ॥ १ ॥

(दोहा)

आतम आतमभाव का, कर्ता-भोक्ता होय ।
 स्व-स्वामी सम्बन्ध भी, अपने में ही होय ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकार! अत्र अवतर-अवतर
 संवौषट् ।

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकार! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः ।

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकार! अत्र मम सन्निहितो
 भव-भव वषट् । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(अवतार)

जल

उज्ज्वल जल परम पवित्र, मल परिहारक है ।
 निज के निर्मल परिणाम, आत्म-उद्धारक हैं ॥
 कर्ता-भोक्ता की बात, निज की निज में है ।
 पर से न कोई सम्बन्ध, अपन अपने में हैं ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकाराय जन्म-जरा-मृत्यु-
 विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

चन्दन

चन्दन-सम शीतल शान्त, आतमा है मेरा ।
 रे अचल अनादि-अनन्त, आतमा है मेरा ॥
 कर्ता-भोक्ता की बात, निज की निज में है ।
 पर से न कोई सम्बन्ध, अपन अपने में हैं ॥

ॐ ह्रीं कर्ता-कर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकाराय संसार-ताप-
 विनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

अक्षत

निज अक्षत अमल अखण्ड, न पर से खण्डित हैं ।
 अपनी महिमा से आप, पूर्णतः मण्डित हैं ॥
 कर्ता-भोक्ता की बात, निज की निज में है ।
 पर से न कोई सम्बन्ध, अपन अपने में हैं ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकाराय अक्षय-पद-प्राप्तये
 अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ।

पुष्प

सुमन सुमन से आज, मन मोहित करते ।
 निर्मल आतम गुणगान, मृदु मन को हरते ॥
 कर्ता-भोक्ता की बात, निज की निज में है ।
 पर से न कोई सम्बन्ध, अपन अपने में हैं ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकाराय काम-बाण-विध्वंसनाय
 पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

नैवेद्य

मन-मोहक मृदु मिष्ठान्न, मधुर महिमा मण्डित ।
 सर्वांग सरस मिष्ठान्न, करते आकर्षित ॥
 कर्ता-भोक्ता की बात, निज की निज में है ।
 पर से न कोई सम्बन्ध, अपन अपने में हैं ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकाराय क्षुधारोगविनाशनाय
 नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

दीप

मनहर तमहर परकाश, स्व-पर प्रकाशक है।
 सद्ज्ञान प्रतीक प्रदीप, वि-भ्रम-तम नाशक है ॥
 कर्ता-भोक्ता की बात, निज की निज में है।
 पर से न कोई सम्बन्ध, अपन अपने में हैं ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकाराय मोहान्धकार-
 विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।

धूप

यह आतम अलख अनूप, धूम दश धर्मों की।
 रे! धर्मध्यान की धूप, दाहक कर्मों की ॥
 कर्ता-भोक्ता की बात, निज की निज में है।
 पर से न कोई सम्बन्ध, अपन अपने में हैं ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकाराय अष्ट-कर्म-दहनाय
 धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

फल

माया ममता को छोड़, अरे! मन को हर लो।
 कर फल से पूजा आज, जनम सफल कर लो ॥
 कर्ता-भोक्ता की बात, निज की निज में है।
 पर से न कोई सम्बन्ध, अपन अपने में हैं ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकाराय मोक्ष-फल-प्राप्तये
 फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

अर्घ्य

जल से फल तक सब अर्घ्य, चढ़ाओ बलिहारी।
 अन-अर्घ्य परमपद प्राप्त, करने की बारी ॥
 कर्ता-भोक्ता की बात, निज की निज में है।
 पर से न कोई सम्बन्ध, अपन अपने में हैं ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-श्रीकर्ताकर्माधिकाराय अनर्घ्य-पद-
 प्राप्तयेऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

अर्घ्यावली

(दोहा)

मैं कर्ता हूँ कर्म का, कर्म है मेरा कर्म ।
ऐसी मिथ्या मान्यता, है मिथ्यात्व अधर्म ॥
निज आतम तल्लीनता, सुखमय आतमधर्म ।
श्री जिन जिनवरदेव ने, यह समझाया मर्म ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि अब, 'जीव-अजीव ही कर्ता-कर्म के वेश में रंगभूमि में प्रवेश करते हैं' और वहाँ 'जीव (अज्ञानी) कहता है कि मैं (जीव) कर्ता हूँ और क्रोधादि (अजीव) मेरे कर्म हैं।' ज्ञानियों को इस 'कर्ता-कर्म सम्बन्धी अज्ञान का शमन करनेवाली ज्ञान-ज्योति' प्रगट होती है, अतः उस ज्ञान-ज्योति की महिमा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव, इस कलश के रूप में इस अधिकार का मंगलाचरण करते हैं -

(हरिगीत)

मैं एक कर्ता आत्मा, क्रोधादि मेरे कर्म सब ।
है यही कर्ता-कर्म की, है प्रवृत्ति अज्ञानमय ॥
शमन करती इसे प्रगटी, सर्व विश्व-विकाशनी ।
अतिधीर परमोदात्त पावन, ज्ञानज्योति-प्रकाशनी ॥ ४६ ॥

ॐ ह्रीं कर्तृकर्माऽज्ञाननिवारक-श्रीज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ६० ॥

यहाँ आगामी दो गाथाओं में 'आत्मा और आस्रव में विशेष अन्तर न जानने को क्रोधादि एवं कर्मबन्ध का कारण' कहते हैं -

(मन्दाक्रान्ता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे, कर्म कोपादयोऽमी,
इत्यज्ञानां शमयदभितः, कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं,
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥ ४६ ॥

(हरिगीत)

आतमा अर आस्रवों में, भेद जब जाने नहीं ।
हैं अज्ञ तबतक जीव सब, क्रोधादि में वर्तन करें ॥ ६९ ॥
क्रोधादि में वर्तन करें तब, कर्म का संचय करें ।
हो कर्म-बन्धन इस तरह, इस जीव को जिनवर कहें ॥ ७० ॥

ॐ ह्रीं कर्मबन्धनकारणप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ६९ ॥

अब, दो गाथाओं और एक कलश के द्वारा 'आत्मा और आस्रवों के बीच होनेवाले भेदज्ञान को बन्ध के निरोध का कारण' बताते हैं -

(हरिगीत)

आतमा अर आस्रवों में, भेद जाने जीव जब ।
जिनदेव ने ऐसा कहा, कि नहीं होवे बन्ध तब ॥ ७१ ॥
इन आस्रवों की अशुचिता, विपरीतता को जानकर ।
आतम करे उनसे निवर्तन, दुःख कारण मानकर ॥ ७२ ॥

(हरिगीत)

पर-परिणति को छोड़ती अर, तोड़ती सब भेद-भ्रम ।
यह अखण्ड प्रचण्ड प्रगटित, हुई पावन-ज्योति जब ॥
अज्ञानमय इस प्रवृत्ति को, है कहाँ अवकाश तब ? ।
अर किसतरह हो कर्मबन्धन? जगी जगमग ज्योति जब ॥ ४७ ॥

ॐ ह्रीं बन्धनिरोधोपायप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ६२ ॥

(गाथा)

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि ।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ॥ ६९ ॥
कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ॥ ७० ॥
जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥ ७१ ॥
णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥ ७२ ॥

(मालिनी)

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्धेदवादानिदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥ ४७ ॥

अब, जिनागम की महत्वपूर्ण गाथाओं के माध्यम से 'शुद्धात्मा का स्वरूप और आस्रव की विशेषता बताते हुए आस्रव-निवृत्ति का उपाय' प्रस्तुत करते हैं - (हरिगीत)

मैं एक हूँ मैं शुद्ध निर्मम, ज्ञान-दर्शन पूर्ण हूँ।
थित लीन निज में ही रहूँ सब, आस्रवों का क्षय करूँ ॥ ७३ ॥
ये सभी जीव-निबद्ध अध्रुव, शरणहीन अनित्य हैं।
दुःखरूप दुःख-फल जानकर, इनसे निवर्तन बुध करें ॥ ७४ ॥

ॐ ह्रीं आस्रवनिवृत्युपायभूत-शुद्धात्माऽऽस्रवयोः भेदज्ञानप्ररूपक-श्रीसमय-
साराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६३ ॥

'आत्मा और आस्रव में भिन्नता जानने से कर्तृत्व का अज्ञान नष्ट होकर यह आत्मा ज्ञानी हो गया' ऐसा भाव आगामी कलश में व्यक्त करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

इस प्रकार जान भिन्नता विभाव भाव की,
कर्तृत्व का अहं विलायमान हो रहा।
निज विज्ञानघन भाव गजारूढ़ हो,
निज भगवान शोभायमान हो रहा ॥
जगत् का साक्षी है पुरुष पुराण यह,
अपने स्वभाव में विकासमान हो रहा।
अहो! सद्ज्ञानवन्त दृष्टिवन्त यह पुमान,
जग-मग ज्योतिमय प्रकाशमान हो रहा ॥ ४८ ॥

ॐ ह्रीं कर्तृत्वनाशकज्ञानीप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निः ॥ ६४ ॥

(गाथा)

अहमेवको खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥ ७३ ॥
जीवणिबद्धा एदे अध्रुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं ॥ ७४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥ ४८ ॥

अब, पाँच गाथाओं के माध्यम से कहते हैं कि 'सम्यग्ज्ञानी, कर्म-नोर्कर्म-कर्मफल आदि का ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं' -

(हरिगीत)

करम के परिणाम को, नोकरम के परिणाम को ।
जो ना करे, बस! मात्र जाने, प्राप्त हो सद्ज्ञान को ॥ ७५ ॥
परद्रव्य की पर्याय में, उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
बहुभाँति पुद्गल कर्म को ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥ ७६ ॥
परद्रव्य की पर्याय में, उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
बहुभाँति निज परिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥ ७७ ॥
परद्रव्य की पर्याय में, उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
पुद्गल करम का नंतफल, ज्ञानी पुरुष जाना करें ॥ ७८ ॥
परद्रव्य की पर्याय में, उपजे ग्रहे ना परिणमें ।
इस ही तरह पुद्गल दरव, निजभाव से ही परिणमें ॥ ७९ ॥

ॐ ह्रीं सम्यग्ज्ञानीस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ६५ ॥

अब, 'जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव होता है, वहीं कर्ता-कर्मभाव होता है - यह कलश के माध्यम से कहते हैं -

(सवैया इकतीसा)

तत्स्वरूप भाव में ही व्याप्य-व्यापक बने,
बने न कदापि वह अतत्स्वरूप भाव में ।

(गाथा)

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ७५ ॥
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ७६ ॥
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥ ७७ ॥
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मप्फलमणंतं ॥ ७८ ॥
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पोग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं ॥ ७९ ॥

कर्ता-कर्म भाव का बनना असम्भव है,
 व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध के अभाव में ॥
 इस भाँति प्रबल विवेक दिन से ही,
 भेद-अन्धकार लीन निज ज्ञान भाव में।
 कर्तृत्व भार से शून्य शोभायमान,
 पूर्ण निर्भार मगन आनन्द स्वभाव में ॥ ४९ ॥

ॐ ह्रीं व्याप्य-व्यापकत्वैव कर्तृ-कर्मभावप्ररूपके -श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६६ ॥

‘स्व-पर को जाननेवाले जीव व न जाननेवाले अजीव में अत्यन्त भिन्नता
 होने से कर्ता-कर्मभाव नहीं बन सकता’ -यह भाव इस कलश में व्यक्त करते हैं-
 (सवैया इकतीसा)

निज-पर-परिणति जानकार जीव यह,
 पर-परिणति को करता कभी नहीं।
 निज-पर-परिणति अजानकार पुद्गल,
 पर-परिणति को करता कभी नहीं ॥
 नित्य अत्यन्त भेद जीव-पुद्गल में,
 करता-करम भाव उनमें बने नहीं।
 ऐसो भेदज्ञान जब तक प्रगटे नहीं,
 करता-करम की प्रवृत्ति मिटे नहीं ॥ ५० ॥

ॐ ह्रीं स्व-परप्रकाशक जीव-अप्रकाशकजीवयोर्कर्तृकर्मभावनिषेधक -
 श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि भवेत्, नैवातदात्मन्यपि,
 व्याप्य-व्यापकभावसम्भवमृते, का कर्तृकर्मस्थितिः।
 इत्युद्दाम-विवेक-घस्मरमहो, भारेण भिन्दंस्तमो,
 ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः, कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥ ४९ ॥

(स्रग्धरा)

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
 व्याप्तव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहो नित्यमत्यंतभेदात्।
 अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
 विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥ ५० ॥

अब, यह कहते हैं कि जीव व पुद्गल में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव होने पर भी कर्ता-कर्म व भोक्ता-भोग्य भाव नहीं है -

(हरिगीत)

जीव के परिणाम से, जड़कर्म पुद्गल परिणामे ।
पुद्गलकर्म के निमित्त से, यह आतमा भी परिणामे ॥ ८० ॥
आतम करे ना कर्मगुण ना, कर्म आतमगुण करे ।
पर परस्पर परिणामन में, दोनों परस्पर निमित्त हैं ॥ ८१ ॥
बस इसलिए यह आतमा निजभाव का कर्ता कहा ।
अन्य सब पुद्गलकर्मकृत भाव का कर्ता नहीं ॥ ८२ ॥
हे भव्यजन ! तुम जान लो परमार्थ से यह आतमा ।
निजभाव को करता तथा निजभाव को ही भोगता ॥ ८३ ॥

ॐ ह्रीं जीवपुद्गलयोः अन्योन्यनिमित्तमात्रत्वेऽपि कर्तृकर्म-भोक्तृभोग्यभाव-
निषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥६८॥

अब, 'द्विक्रियावादी का स्वरूप बताकर उसका निषेध' करते हैं -

(हरिगीत)

अनेकविध पुद्गल कर्म को, करे भोगे आतमा ।
व्यवहारनय का कथन है यह, जान लो भव्यातमा! ॥ ८४ ॥
पुद्गलकर्म को करे भोगे, जगत् में यदि आतमा ।
द्विक्रिया अव्यतिरिक्त हों, सम्मत न जो जिनधर्म में ॥ ८५ ॥

(गाथा)

जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति ।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥ ८० ॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥ ८१ ॥
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८२ ॥
णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ ॥
ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि पोयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८४ ॥
जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं ॥ ८५ ॥

यदि आतमा जड़भाव-चेतनभाव दोनों को करे ।

तो आतमा द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि अवतरे ॥ ८६ ॥

ॐ ह्रीं द्विक्रियावादीमिथ्यादृष्टिनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति
स्वाहा ॥६९॥

अब, चार कलशों में 'निश्चयकर्ता-कर्म-क्रिया का स्वरूप' बताते हैं-
(हरिगीत)

कर्ता वही जो परिणमे, परिणाम ही बस कर्म है ।

है परिणति ही क्रिया बस! तीनों अभिन्न अखण्ड हैं ॥ ५१ ॥

अनेक होकर एक है, हो परिणमित बस! एक ही ।

परिणाम हो बस! एक का, हो परिणति बस! एक की ॥ ५२ ॥

परिणाम दो का एक ना, मिलकर नहीं दो परिणमे ।

परिणति दो की एक ना, बस! क्योंकि दोनों भिन्न हैं ॥ ५३ ॥

कर्ता नहीं दो एक के, हों एक के दो कर्म ना ।

ना दो क्रियायें एक की हों, क्योंकि एक अनेक ना ॥ ५४ ॥

ॐ ह्रीं कर्तृ-कर्म-क्रियास्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति
स्वाहा ॥७०॥

अब, आगामी कलश में कहते हैं कि 'यदि यह कर्ता-कर्मसम्बन्धी
अनादिकालीन अज्ञान, एक बार नष्ट हो तो फिर इसका उदय ही न हो' -

(गाथा)

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति ।

तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥ ८६ ॥

(आर्या)

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।

या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ ५१ ॥

एकः परिणमति सदा, परिणामो जायते सदैकस्य ।

एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ५२ ॥

नोभौ परिणमतः खलु, परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।

उभयोर्न परिणतिः स्यादनेकमनेकमेव सदा ॥ ५३ ॥

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ, स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।

नैकस्य च क्रिये द्वे, एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ५४ ॥

(हरिगीत)

‘पर को करूँ मैं’ – यह अहं, अत्यन्त ही दुर्वार है।
यह है अखण्ड अनादि से, जीवन हुआ दुःस्वार है॥
भूतार्थनय के ग्रहण से यदि, प्रलय को यह प्राप्त हो।
तो ज्ञान के घनपिण्ड आत्म, को कभी ना बन्ध हो॥ ५५ ॥

(दोहा)

परभावों को पर करे, आत्म आत्मभाव ।
आप आपके भाव हैं, पर के हैं परभाव ॥ ५६ ॥

ॐ ह्रीं कर्तृ-कर्माऽज्ञाननिषेधक-भूतार्थग्रहणप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥७१॥

अब, ‘मिथ्यात्वादि जीव-अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं’, यह
बताते हैं -

(हरिगीत)

मिथ्यात्व-अविरति-योग-मोहाऽज्ञान और कषाय हैं।
ये सभी जीवाऽजीव हैं, ये सभी द्विविध प्रकार हैं ॥ ८७ ॥
मिथ्यात्व आदि अजीव जो, वे सभी पुद्गल कर्म हैं।
मिथ्यात्व आदि जीव हैं जो, वे सभी उपयोग हैं ॥ ८८ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं ब्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥ ५५ ॥

(अनुष्टुभ्)

आत्मभावान्करोत्यात्मा, परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः, परस्य पर एव ते ॥ ५६ ॥

(गाथा)

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥ ८७ ॥
पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु ॥ ८८ ॥

मोहयुत उपयोग के, परिणाम तीन अनादि से ।
जानो उन्हें मिथ्यात्व, अविरतभाव अर अज्ञान ये ॥ ८९ ॥

ॐ ह्रीं जीवाऽजीवरूपेण मिथ्यात्वादिभेदप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥७२॥

अब, कहते हैं कि 'अज्ञान से ही कर्तृत्व उत्पन्न होता है और ज्ञान से
कर्तृत्व नष्ट होता है' - (हरिगीत)

यद्यपी उपयोग तो, नित ही निरंजन शुद्ध है ।
जिसरूप परिणत हो त्रिविध, वह उसी का कर्ता बने ॥ ९० ॥
आतम करे जिस भाव को, उस भाव का कर्ता बने ।
बस! स्वयं ही उस समय पुद्गल, कर्मभावे परिणमे ॥ ९१ ॥
पर को करे निजरूप जो, पररूप जो निज को करे ।
अज्ञानमय वह आतमा, पर करम का कर्ता बने ॥ ९२ ॥
पररूप ना निज को करे, पर को करे निजरूप ना ।
अकर्ता रहे पर करम का, सद्ज्ञानमय वह आतमा ॥ ९३ ॥
त्रिविध यह उपयोग जब, 'मैं क्रोध हूँ' इम परिणमे ।
तब जीव उस उपयोगमय, परिणाम का कर्ता बने ॥ ९४ ॥

(गाथा)

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो ॥ ८९ ॥
एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥ ९० ॥
जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥ ९१ ॥
परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९२ ॥
परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥ ९३ ॥
तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोऽहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९४ ॥

त्रिविध यह उपयोग जब, 'मैं धर्म हूँ' इम परिणामे ।
 तब जीव उस उपयोगमय, परिणाम का कर्ता बने ॥ ९५ ॥
 इसतरह यह मन्दबुद्धि, स्वयं के अज्ञान से ।
 निजद्रव्य को पर करे अरु, परद्रव्य को अपना करे ॥ ९६ ॥
 बस! इसतरह कर्ता कहें, परमार्थ ज्ञायक आत्मा ।
 जो जानते यह तथ्य वे, छोड़ें सकल कर्तापना ॥ ९७ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञानात्कर्तृत्व-ज्ञानादकर्तृत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ॥७३॥

अब, छह कलशों के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि 'अज्ञान व ज्ञान से क्या-क्या होता है?' -

(कुण्डलिया)

नाज सम्मिलित घास को, ज्यों खावे गजराज ।
 भिन्न स्वाद जाने नहीं, समझे मीठी घास ॥
 समझे मीठी घास नाज को न पहिचाने ।
 त्यों अज्ञानी जीव निजातम स्वाद न जाने ॥
 पुण्य-पाप में धार एकता-शून्य हिया है ।
 अरे! शिखरणी पी मानो गो-दूध पिया है ॥ ५७ ॥

(हरिगीत)

अज्ञान से ही भागते मृग, रेत को जल मानकर ।
 अज्ञान से ही डरें तम में, रस्सी विषधर मानकर ॥

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी ।
 कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९५ ॥
 एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
 अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥ ९६ ॥
 एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
 एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तितं ॥ ९७ ॥

(वसन्ततिलका)

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
 पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृह्य्या गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥ ५७ ॥

ज्ञानमय है जीव पर, अज्ञान के कारण अहो! ।
वातोद्वेलित उदधिवत्, कर्ता बने आकुलित हो ॥ ५८ ॥

दूध-जल में भेद जाने, ज्ञान से बस! हंस ज्यों ।
सद्ज्ञान से अपना-पराया, भेद जाने जीव त्यों ॥

जानता तो है सभी, करता नहीं कुछ आतमा ।
चैतन्य में आरूढ़ नित ही, यह अचल परमात्मा ॥ ५९ ॥

(आडिल्ल)

उष्णोदक में उष्णता है अग्नि की ।
और शीतलता सहज ही नीर की ॥
व्यंजनों में है नमक का क्षारपन ।
ज्ञान ही यह जानता है विज्ञजन ॥
क्रोधादिक के कर्तापन को छेदता ।
अहंबुद्धि के मिथ्यातम को भेदता ॥
इसी ज्ञान में प्रगटे निज शुद्धात्मा ।
अपने रस से भरा हुआ यह आतमा ॥ ६० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्री भवंत्याकुलाः ॥ ५८ ॥

(वसन्ततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥ ५९ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिदती कर्तृभावम् ॥ ६० ॥

(सोरठा)

करे निजातम भाव, ज्ञान और अज्ञानमय ।
करे न पर के भाव, ज्ञानस्वभावी आतमा ॥ ६१ ॥
ज्ञानस्वभावी जीव, करे ज्ञान से भिन्न क्या ? ।
कर्ता पर का जीव, जगज्जनों का मोह यह ॥ ६२ ॥

ॐ ह्रीं कर्तृ-कर्मविषये ज्ञानाऽज्ञानयोः फलप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७४ ॥

अब, 'आत्मा को व्यवहार से ही परद्रव्य का कर्तृत्व है, निश्चय से नहीं', यह बताते हैं -

(हरिगीत)

व्यवहार से यह आतमा, घट-पट-रथादिक द्रव्य का ।
इन्द्रियों का कर्म का, नोकर्म का कर्ता कहा ॥ ९८ ॥
परद्रव्यमय हो जाय यदि, परद्रव्य में कुछ भी करे ।
परद्रव्यमय होता नहीं बस! इसलिए कर्ता नहीं ॥ ९९ ॥
ना घट करे ना पट करे, ना अन्य द्रव्यों को करे ।
कर्ता कहा तत्सूत्र परिणत, योग अर उपयोग का ॥ १०० ॥

ॐ ह्रीं व्यवहार-कर्तृत्वे निश्चयनयेन दोषः इतिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७५ ॥

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ ६१ ॥
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ ६२ ॥

(गाथा)

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरधाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥ ९८ ॥
जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥
जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०० ॥

अब, 'ज्ञानी-अज्ञानी दोनों में से कोई भी परद्रव्य का कर्ता नहीं है' - यह कहते हैं-

(हरिगीत)

ज्ञानावरण आदिक जु पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।
 उनको करे ना आतमा, जो जानते वे ज्ञानी हैं॥ १०१ ॥
 निजकृत शुभाशुभभाव का, कर्ता कहा है आतमा।
 वे भाव उसके कर्म हैं, वेदक है उनका आतमा ॥ १०२ ॥
 जब संक्रमण ना करे कोई द्रव्य, पर गुण-द्रव्य में।
 तब करे कैसे परिणामन इक द्रव्य, पर गुण-द्रव्य में॥ १०३ ॥
 कुछ भी करे ना जीव, पुद्गल कर्म के गुण-द्रव्य में।
 जब उभय का कर्ता नहीं, तब किसतरह कर्ता कहें? ॥ १०४ ॥

ॐ ह्रीं परद्रव्यकर्तृत्वनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं॥ ७६ ॥

अब, 'जीव को परद्रव्य का कर्ता कहना, यह व्यवहारनय का कथन है'
 - ऐसा दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं -

(हरिगीत)

बन्ध का जो हेतु उस, परिणाम को लख जीव में।
 करम कीने जीव ने बस!, कह दिया उपचार से ॥ १०५ ॥

(गाथा)

जे पोगलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
 ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ १०१ ॥
 जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
 तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ १०२ ॥
 जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णाम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
 सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥
 दव्वगुणस्स य आदा ण कुण्णदि पोगलमयम्हि कम्मम्हि।
 तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥ १०४ ॥
 जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
 जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण ॥ १०५ ॥

रण में लड़े भट पर कहे जग, युद्ध राजा ने किया ।
 बस! उस तरह द्रव्यकर्म आतम ने किये व्यवहार से ॥ १०६ ॥
 ग्रहे - बाँधे - परिणामावे, करे या पैदा करे ।
 पुद्गलदरव को आतमा, व्यवहारनय का कथन है ॥ १०७ ॥
 गुण-दोष उत्पादक कहा ज्यों, भूप को व्यवहार से ।
 त्यों जीव पुद्गल द्रव्य का, कर्ता कहा व्यवहार से ॥ १०८ ॥

ॐ ह्रीं कर्तृत्वसम्बन्धी-व्यवहारदर्शक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ७७ ॥

अब, 'मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय अथवा तेरह गुणस्थान, पुद्गलकर्म के कर्ता हैं' - यह बताते हैं -

(दोहा)

यदि पुद्गलमय कर्म को, करे न चेतनराय ।
 कौन करे? अब यह कहें, सुनो! भरम नश जाय ॥ ६३ ॥

(हरिगीत)

मिथ्यात्व अरु अविरमण योग, कषाय के परिणाम हैं ।
 सामान्य से ये चार प्रत्यय, कर्म के कर्ता कहे ॥ १०९ ॥

जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो ।
 ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥ १०६ ॥
 उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
 आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ १०७ ॥
 जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो ति आलविदो ।
 तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥ १०८ ॥

(वसन्ततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव ।
 एतर्हि तीव्ररयमोहननिवर्हणाय, संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥ ६३ ॥

(गाथा)

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
 मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य बोद्धव्वा ॥ १०९ ॥

मिथ्यात्व आदि सयोगि-जिन तक, जो कहे गुणथान हैं।
 बस! ये त्रयोदश भेद प्रत्यय, के कहे जिनसूत्र में ॥ ११० ॥
 पुद्गल कर्म के उदय से, उत्पन्न ये सब अचेतन-।
 कर्म के कर्ता हैं ये, वेदक नहीं है आतमा ॥ १११ ॥
 गुण नाम के ये सभी प्रत्यय, कर्म के कर्ता कहे।
 कर्ता रहा ना जीव, ये गुणथान ही कर्ता रहे ॥ ११२ ॥

ॐ ह्रीं पुद्गलकर्म-कर्तृत्वनिरूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥७८॥

अब, 'जीव और द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म में एकत्व नहीं है', यह बताते हैं -

(हरिगीत)

उपयोग जीव अनन्य ज्यों यदि, त्यों हि क्रोध अनन्य हो।
 तो जीव और अजीव दोनों, एक ही हो जायेंगे ॥ ११३ ॥
 यदि जीव और अजीव दोनों, एक हों तो इसतरह।
 का दोष प्रत्यय, कर्म अर नोकर्म में भी आयगा ॥ ११४ ॥
 क्रोधऽन्य है अर अन्य है, उपयोगमय यह आतमा।
 तो कर्म अरु नोकर्म प्रत्यय, अन्य होंगे क्यों नहीं? ॥ ११५ ॥

ॐ ह्रीं द्रव्य-भाव-नोकर्मणां आत्मना सहैकत्वनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः
 अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७९ ॥

(गाथा)

तेसिं पुणो वि य इमो भणितो भेदो दु तेरसवियप्पो।
 मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥ ११० ॥
 एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मदयसंभवा जम्हा।
 ते जदि करेति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ॥ १११ ॥
 गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
 तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११२ ॥
 जह जीवस्स अणणुवओगो कोहो वि तह जदि अणणो।
 जीवस्साजीवस्स य एवमणणत्तमावणं ॥ ११३ ॥
 एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।
 अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥ ११४ ॥
 अह दे अणो कोहो अणणुवओगप्पगो हवदि चेदा।
 जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अणं ॥ ११५ ॥

अब, आगामी पाँच गाथाओं एवं एक कलश में 'पुद्गलद्रव्य का परिणमन-स्वभाव' सयुक्तिक सिद्ध करते हैं -

(हरिगीत)

यदि स्वयं ही कर्मभाव से, परिणत न हो ना बँधे ही ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा, कर्ममय पुद्गल दरव ॥ ११६ ॥
कर्मत्व में यदि वर्गणाएँ, परिणमित होंगी नहीं ।
तो सिद्ध होगा सांख्य मत, संसार की हो नास्ति ॥ ११७ ॥
यदि परिणमावे जीव, पुद्गल दरव को कर्मत्व में ।
पर परिणमावे किसतरह वह, अपरिणामी वस्तु को ॥ ११८ ॥
यदि स्वयं ही परिणमें वे, पुद्गल दरव कर्मत्व में ।
मिथ्या रही यह बात उनको, परिणमावे आतमा ॥ ११९ ॥
जड़कर्म परिणत जिसतरह, पुद्गल दरव ही कर्म है ।
जड़ ज्ञान-आवरणादि परिणत, ज्ञान-आवरणादि हैं ॥ १२० ॥

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक, परिणमन की शक्ति जब ।
और उनके परिणमन में, है न कोई विघ्न जब ॥

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पोग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥ ११६ ॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ ११७ ॥
जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहां णु परिणामयदि चेदा ॥ ११८ ॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९ ॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइ - परिणदं मुणसु तच्चेव ॥ १२० ॥

क्यों न हो तब स्वयं कर्ता, स्वयं के परिणमन का ?।

अर सहज यह नियम जानो, वस्तु के परिणमन का ॥ ६४ ॥

ॐ ह्रीं पुद्गलद्रव्यस्य परिणमनस्वभावसाधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥८०॥

अब पाँच गाथाओं एवं एक कलश में 'जीवद्रव्य के परिणमन स्वभाव'
की सयुक्तिक सिद्धि करते हैं -

(हरिगीत)

यदि स्वयं ही ना बँधे अर, क्रोधादिमय परिणत न हो ।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा, जीव तेरे मत विषे ॥ १२१ ॥
स्वयं ही क्रोधादि में यदि, जीव ना हो परिणमित ।
तो सिद्ध होगा सांख्य मत, संसार की हो नास्ति ॥ १२२ ॥
यदि परिणमावे कर्म-जड़, क्रोधादि में इस जीव को ।
पर परिणमावे किसतरह वह, अपरिणामी वस्तु को ॥ १२३ ॥
यदि स्वयं ही क्रोधादि में, परिणमित हो यह आतमा ।
मिथ्या रही यह बात उसको, परिणमावे कर्म-जड़ ॥ १२४ ॥

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य, स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ ६४ ॥

(गाथा)

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अपपरिणामी तदा होदि ॥ १२१ ॥
अपरिणमंतमिहि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२२ ॥
पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥ १२३ ॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥ १२४ ॥

क्रोधोपयोगी क्रोध है, मानोपयोगी मान है।
मायोपयोगी माया है, लोभोपयोगी लोभ है ॥ १२५ ॥

(हरिगीत)

आत्मा में है स्वभाविक, परिणमन की शक्ति जब।
और उसके परिणमन में, है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता, स्वयं के परिणमन का ?।
अर सहज यह नियम जानो, वस्तु के परिणमन का ॥ ६५ ॥

ॐ ह्रीं जीवद्रव्यस्य परिणमनस्वभावसाधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥८१॥

अब, 'अज्ञानी अज्ञानमयभावों के कारण कर्ता और ज्ञानी ज्ञानमय भावों के कारण अकर्ता होता है', यह कहते हैं -

(हरिगीत)

जो भाव आत्म करे वह, उस कर्म का कर्ता बने।
ज्ञानियों के ज्ञानमय, अज्ञानि के अज्ञानमय ॥ १२६ ॥
अज्ञानमय हैं भाव इससे, अज्ञ कर्ता कर्म का।
बस! ज्ञानमय हैं इसलिए, ना विज्ञ कर्ता कर्म का ॥ १२७ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानी-अज्ञानिनोऽकर्तृत्व-कर्तृत्वप्रसाधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥८२॥

कोहुवजुत्तो कोहो माणवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥ १२५ ॥

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया, स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥ ६५ ॥

(गाथा)

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥ १२६ ॥
अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्मणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्मणि ॥ १२७ ॥

अब, 'ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी के अज्ञानमय भाव ही क्यों होते हैं ?' - यह दो कलश और चार गाथाओं में दृष्टान्त सहित स्पष्ट कहते हैं -

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी हैं।

अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी हैं ॥

ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है ?।

तथा शुभाशुभभावों में भी अन्तर क्यों है ॥ ६६ ॥

(हरिगीत)

ज्ञानमय परिणाम से, परिणाम हों सब ज्ञानमय।

बस! इसलिए सद्ज्ञानियों के, भाव हों सद्ज्ञानमय ॥ १२८ ॥

अज्ञानमय परिणाम से, परिणाम हों अज्ञानमय।

बस! इसलिए अज्ञानियों के, भाव हों अज्ञानमय ॥ १२९ ॥

स्वर्ण-निर्मित कुण्डलादि, स्वर्णमय ही हों सदा।

लोह-निर्मित कटक आदि, लोहमय ही हों सदा ॥ १३० ॥

इस ही तरह अज्ञानियों के, भाव हों अज्ञानमय।

इस ही तरह सब भाव हों, सद्ज्ञानियों के ज्ञानमय ॥ १३१ ॥

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः, कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।

अज्ञानमयः सर्वः, कुतोऽयमज्ञानिनो नाऽन्यः ॥ ६६ ॥

(गाथा)

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।

जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥ १२८ ॥

अण्णाणमया भावादो अण्णाणो चेव जायदे भावो।

जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥ १२९ ॥

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा।

अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी ॥ १३० ॥

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।

णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥ १३१ ॥

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं।

अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं॥

उपादान के ही समान कारज होते हैं।

जौ बौने पर जौ ही तो पैदा होते हैं॥ ६७ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानी-अज्ञानिनोः ज्ञानाऽज्ञानभावयोः कर्तृत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥८३॥

अब, 'अज्ञानी के अज्ञानमय भाव ही कर्म-बन्धन के निमित्त-कारणरूप
हेतु हैं' - यह एक कलश और पाँच गाथाओं से स्पष्ट करते हैं -

(दोहा)

अज्ञानी अज्ञानमय, भावभूमि में व्याप्त ।

इस कारण द्रव्य-बन्ध के, हेतुपने को प्राप्त ॥ ६८ ॥

(हरिगीत)

निजतत्त्व का अज्ञान ही, बस! उदय है अज्ञान का ।

निजतत्त्व अश्रद्धान ही, बस! उदय है मिथ्यात्व का ॥ १३२ ॥

अविरमण का सद्भाव ही, बस! असंयम का उदय है ।

उपयोग की यह कलुषिता ही, कषायों का उदय है ॥ १३३ ॥

शुभ-अशुभ चेष्टा में तथा, निवृत्ति में या प्रवृत्ति में ।

जो चित्त का उत्साह है, वह ही उदय है योग का ॥ १३४ ॥

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः, सर्वे भावा भवन्ति हि ।

सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता, भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ ६७ ॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्यभूमिकाम् ।

द्रव्यकर्मनिमित्तानां, भावानामेति हेतुताम् ॥ ६८ ॥

(गाथा)

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।

मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥ १३२ ॥

उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।

जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥ १३३ ॥

तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छहो ।

सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥ १३४ ॥

इनके निमित्त के योग से, जड़-वर्गणाएँ कर्म की।
परिणमित हों सब ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म में ॥ १३५ ॥
इस तरह वसुविध कर्म से, आबद्ध जिय जब हो तभी।
अज्ञानमय निजभाव का हो, हेतु जिय जिनवर कहें ॥ १३६ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञानिनः अज्ञानमयभावानां कर्मबन्धननिमित्तत्वरूपक-
श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥८४॥

अब, सतर्क यह कहते हैं कि 'जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य के परिणाम परस्पर पृथक्-पृथक् ही होते हैं -

(हरिगीत)

इस जीव के रागादि, पुद्गलकर्म में भी हों यदि।
तो जीववत् जड़कर्म भी, रागादिमय हो जायेंगे ॥ १३७ ॥
किन्तु जब जड़कर्म बिन ही, जीव के रागादि हों।
तब कर्म-जड़-पुद्गलमयी, रागादिमय कैसे बनें? ॥ १३८ ॥
यदि कर्ममय परिणाम, पुद्गलद्रव्य का जिय साथ हो।
तो जीव भी जड़कर्मवत्, कर्मत्व को ही प्राप्त हो ॥ १३९ ॥
किन्तु जब जियभाव बिन ही, एक पुद्गलद्रव्य का।
यह कर्ममय परिणाम है तो, जीव जड़मय क्यों बने? ॥ १४० ॥

(गाथा)

एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु।
परिणामदे अट्टुविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १३५ ॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥ १३६ ॥
जीवस्स दु कम्मण य सह परिणामा हु होति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥ १३७ ॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥ १३८ ॥
जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्सकम्मपरिणामो।
एवं पोग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥ १३९ ॥
एकस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४० ॥

ॐ ह्रीं जीव-पुद्गलयोः परस्परपृथक्भूत-परिणामप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८५ ॥

अब, 'जीव के साथ कर्म-बन्ध है या नहीं', 'जीव मूढ है या नहीं',
इत्यादि परस्पर-विरुद्ध अनेक अपेक्षाओं के सम्बन्ध में नय-विभाग स्पष्ट करते
हुए 'पक्षातिक्रान्त ही समयसार है', यह समझाते हैं -

(हरिगीत)

'कर्म से आबद्ध जिय' यह कथन है व्यवहार का ।
पर 'कर्म से ना बद्ध जिय' यह कथन है परमार्थ का ॥ १४१ ॥
'अबद्ध है या बद्ध है जिय' ये सभी नयपक्ष हैं ।
नयपक्ष से अतिक्रान्त जो, वह ही समय का सार है ॥ १४२ ॥

ॐ ह्रीं 'पक्षातिक्रान्त एव समयसार' इतिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८६ ॥

अब, 'जो समस्त नयपक्ष के विकल्पों का अतिक्रम करता है, वही समयसार
को प्राप्त करता है'; अतः आचार्य अमृतचन्द्रदेव, नयपक्ष के त्याग की भावना
वाले २३ कलशरूप काव्य लिखते हैं, जिनका पद्यानुवाद इसप्रकार है -

(सोरठा)

जो निवसे निज माहि, छोड़ सभी नयपक्ष को ।
करे सुधारस पान, निर्विकल्प चित शान्त हो ॥ ६९ ॥

जीवे कम्मं बद्धं पुट्टं चेदि ववहारणयभण्णिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्टं हवदि कम्मं ॥ १४१ ॥
कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खवादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः, त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥ ६९ ॥

(रोला)

एक कहे ना बँधा, दूसरा कहे बँधा है।
 किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव, सदा चैतन्यरूप है ॥ ७० ॥
 एक कहे ना मूढ़, दूसरा कहे मूढ़ है।
 किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव, सदा चैतन्यरूप है ॥ ७१ ॥
 एक कहे ना रक्त, दूसरा कहे रक्त है।
 किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव, सदा चैतन्यरूप है ॥ ७२ ॥
 एक कहे ना दुष्ट, दूसरा कहे दुष्ट है।
 किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव, सदा चैतन्यरूप है ॥ ७३ ॥
 एक अकर्ता कहे, दूसरा कर्ता कहता।
 किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ॥

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७० ॥
 एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७१ ॥
 एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७२ ॥
 एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७३ ॥

पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव, सदा चैतन्यरूप है ॥ ७४ ॥
 एक अभोक्ता कहे, दूसरा भोक्ता कहता।
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७५ ॥
 एक कहे ना जीव, दूसरा कहे जीव है।
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७६ ॥
 एक कहे ना सूक्ष्म, दूसरा कहे सूक्ष्म है।
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७७ ॥
 एक कहे ना हेतु, दूसरा कहे हेतु है।
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७८ ॥

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७४ ॥
 एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७५ ॥
 एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७६ ॥
 एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७७ ॥
 एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७८ ॥

एक कहे ना कार्य, दूसरा कहे कार्य है।
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७९ ॥
 एक कहे ना भाव, दूसरा कहे भाव है।
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८० ॥
 एक कहे ना एक, दूसरा कहे एक है।
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८१ ॥
 एक कहे ना सान्त, दूसरा कहे सान्त है।
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८२ ॥
 एक कहे ना नित्य, दूसरा कहे नित्य है।
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
 पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८३ ॥

(उपजाति)

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७९ ॥
 एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८० ॥
 एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८१ ॥
 एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८२ ॥
 एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वीविति पक्षपातौ ।
 यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८३ ॥

एक कहे ना वाच्य, दूसरा कहे वाच्य है।
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८४ ॥

नाना कहता एक, दूसरा कहे अनाना।
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८५ ॥

एक कहे ना चेत्य, दूसरा कहे चेत्य है।
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८६ ॥

एक कहे ना दृश्य, दूसरा कहे दृश्य है।
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८७ ॥

एक कहे ना वेद्य, दूसरा कहे वेद्य है।
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८८ ॥

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८४ ॥
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८५ ॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८६ ॥
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८७ ॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८८ ॥

एक कहे ना भात, दूसरा कहे भात है।
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ॥
पक्षपात से रहित, तत्त्व-वेदी जो जन हैं।
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८९ ॥

(हरिगीत)

उठ रहा जिसमें है अनन्ते, विकल्पों का जाल है।
वह वृहद् नय-पक्ष-कक्षा, विकट है विकराल है ॥
उल्लंघन कर उसे बुध, अनुभूतिमय निजभाव को।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से, समरसी एक स्वभाव को ॥ ९० ॥

(दोहा)

इन्द्रजाल से स्फुरें, सब विकल्प के पुंज।
जो क्षणभर में लय करे, मैं हूँ वह चित्पुंज ॥ ९१ ॥

ॐ ह्रीं सकलनयपक्षसंन्यासभावनानर्तक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८७ ॥

अब, पक्षातिक्रान्त का स्वरूप कहते हैं -

(हरिगीत)

दोनों नयों को जानते, पर ना ग्रहे नयपक्ष को।
नयपक्ष से परिहीन पर, निज समय से प्रतिबद्ध वे ॥ १४३ ॥

ॐ ह्रीं पक्षातिक्रान्तस्वरूपप्रतिपादक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ८८ ॥

(उपजाति)

एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८९ ॥

(वसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं, स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥ ९० ॥

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ९१ ॥

(गाथा)

दोणह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥ १४३ ॥

अब, 'पक्षातिक्रान्त का स्वरूप बताकर, आगामी कलश में 'समयसार-स्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव की प्रेरणा' देते हैं -

(रोला)

मैं हूँ वह चित्पुंज कि भावाभाव भावमय ।
परमारथ से एक सदा अविचल स्वभावमय ॥
कर्मजनित यह बन्धपद्धति करूँ पार मैं ।
नित अनुभव यह करूँ कि चिन्मय समयसार मैं ॥ ९२ ॥

ॐ ह्रीं पक्षातिक्रान्त-समयसारस्वरूप-परमात्मानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥८९॥

अब, एक गाथा और एक कलश के माध्यम से कहते हैं कि
'पक्षातिक्रान्त-स्वरूप समयसार ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है' -

(हरिगीत)

विरहित सभी नयपक्ष से जो, वह समय का सार है ।
है वही सम्यग्ज्ञान एवं, वही समकित सार है ॥ १४४ ॥

(हरिगीत)

यह पुण्य-पुरुष-पुराण सब, नयपक्ष बिन भगवान है ।
यह अचल है अविकल्प है, बस यही दर्शन-ज्ञान है ॥
निभृतजनों का स्वाद्य है, अर जो समय का सार है ।
जो भी हो वह बस! एक ही, अनुभूति का आधार है ॥ ९३ ॥

ॐ ह्रीं 'पक्षातिक्रान्त-समयसार एव सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानम्' इतिप्ररूपक-
श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥९०॥

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥ ९२ ॥

(गाथा)

सम्मद्वंसणणाणं एसो लहदि ति णवरि ववदेसं ।
सत्त्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं, पक्षैर्नयानां विना;
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्;
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥ ९३ ॥

अब, आगामी कलश में 'आत्मानुभव कैसे होता है ?' यह दृष्टान्तपूर्वक बताते हैं -
(हरिगीत)

निज औघ से च्युत जिस तरह जल, ढालवाले मार्ग से ।
बलपूर्वक यदि मोड़ दें तो, आ मिले निज औघ से ॥
उस ही तरह यदि मोड़ दें, बलपूर्वक निजभाव को ।
निजभाव से च्युत आत्मा, निजभाव में ही आ मिले ॥ ९४ ॥

ॐ ह्रीं दृष्टान्तपुरस्सर-स्वानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति
स्वाहा ॥९१॥

अब, कहते हैं कि विकल्प करनेवाला कर्ता है और मात्र विकल्प ही उसका कर्म है -

(रोला)

है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे ।
जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे ॥
नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे ।
इस विधि कर्ता-कर्मभाव का नाश न होवे ॥ ९५ ॥

ॐ ह्रीं 'विकल्प एव कर्म - विकल्पक एव कर्तृ' इतिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥९२॥

अब, इस अधिकार का उपसंहार करते हुए अन्तिम चार कलशों में कहते हैं कि 'जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं होता और जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं होता' -

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरिविकल्पजालगहने, भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो;
दूरादेव विवेकनिम्नगमनात्नीतो निजौघंबलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्;
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥ ९४ ॥

(अनुष्टुभ्)

विकल्पकः परं कर्ता, विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं, सविकल्पस्य नश्यति ॥ ९५ ॥

(रोला)

जो करता है वह केवल कर्ता ही होवे।
जो जाने बस! वह केवल ज्ञाता ही होवे ॥
जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई!।
जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई! ॥ ९६ ॥

(रोला)

करने रूप क्रिया में जानन भासित ना हो।
जानन रूप क्रिया में करना भासित ना हो ॥
इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न हैं।
इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं ॥ ९७ ॥

(हरिगीत)

कर्म में कर्ता नहीं अर, कर्म कर्ता में नहीं।
इसलिए कर्ता-कर्म की थिति भी, कभी बनती नहीं ॥
कर्म में है कर्म, ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा।
यदि साफ है यह बात तो फिर, मोह है क्यों नाचता? ॥ ९८ ॥

(सवैया इकतीसा)

जगमग जगमग जली ज्ञान-ज्योति जब,
अति गम्भीर चित् शक्तियों के भार से ॥
अद्भुत अनुपम अचल अभेद ज्योति,
व्यक्त धीर-वीर निर्मल आर-पार से ॥

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥ ९६ ॥

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः, ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने, ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ९७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तारि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथात्येष किम् ॥ ९८ ॥

तब कर्म कर्म अर कर्ता कर्ता न रहा ।
 ज्ञान ज्ञानरूप हुआ आनन्द अपार से ॥
 और पुद्गलमयी कर्म कर्मरूप हुआ,
 ज्ञानी पार हुए भव-सागर अपार से ॥ ९९ ॥
 ॐ ह्रीं ज्ञार्तृत्व-कर्तृत्वयोः भेदज्ञानप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ ९३ ॥
 (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

जयमाला

(दोहा)

अरे! विगत अधिकार में, परद्रव्यों के साथ ।
 रे एकत्व-ममत्व को, छुड़वाया हे नाथ! ॥ १ ॥
 अब इस अधिकार में, कर्ता-भोक्ता भाव ।
 को छुड़वाते भव्यजन! इनका करो अभाव ॥ २ ॥
 वर्णादि रागादि को, करे न भोगे जीव ।
 ज्ञाता-दृष्टा ही रहे, निज में रमे सदीव ॥ ३ ॥
 (रोला)

रे! एकत्व-ममत्व और कर्ता-भोक्तापन ।
 यदि होवे पर में तो मिथ्यादर्श कहा है ॥
 अरे! नहीं है कोई भी परद्रव्य किसी का ।
 और नहीं है कोई किसी का कर्ता-भोक्ता ॥ ४ ॥
 सब अपने-अपने में ही परिपूर्ण तत्त्व हैं ।
 कर्ता-भोक्ता भी सब अपने-अपने ही हैं ॥
 दो द्रव्यों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है ।
 सब अपने-अपने में ही शोभित होते हैं ॥ ५ ॥

(मन्द्राक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
 ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
 ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
 श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥ ९९ ॥

इस जग का कर्ता कोई भगवान नहीं है ।
 सुनो भव्य! यह बात मात्र इतनी ही नहीं है ॥
 एक द्रव्य है नहीं अन्य का कर्ता-धर्ता ।
 मूल बात तो यह है इसे ध्यान से जानों ॥ ६ ॥
 इसे भूलकर जो पर के कर्ता बनते हैं ।
 वे अज्ञानी जीव चतुर्गति भ्रमण करेंगे ॥
 उनके भव का अन्त नहीं है दूर-दूर तक ।
 वे चौरासी लाख योनियों में घूमेंगे ॥ ७ ॥
 है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे ।
 जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे ॥
 नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे ।
 इस विधि कर्ता-कर्मभाव का नाश न होवे ॥ ८ ॥
 जो करता है वह केवल कर्ता ही होवे ।
 जो जाने बस! वह केवल ज्ञाता ही होवे ॥
 जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई! ।
 जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई! ॥ ९ ॥
 करने रूप क्रिया में जानन भासित ना हो ।
 जानन रूप क्रिया में करना भासित ना हो ॥
 इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न है ।
 इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं ॥ १० ॥

(दोहा)

ज्ञाता बनना इष्ट है, कर्ता-भाव अनिष्ट ।
 कर्ता-भाव विनाश कर, ज्ञाताभाव-प्रविष्ट ॥ ११ ॥

ॐ ह्रीं कर्ताकर्मस्वरूपप्रतिपादक-कर्ताकर्माधिकाराय जयमाला पूर्णार्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ।

कर्ता-कर्म विभाव की, चर्चा हुई समाप्त ।
 अब होगी रे भव्यजन! पुण्य-पाप की बात ॥ १२ ॥
 (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

पुण्य-पाप अधिकार पूजन

स्थापना

(दोहा)

पुण्य-पाप दोनों करम, शिवमग-रोकनहार ।
 पुण्य-पाप से पार है, आतम धरम अपार ॥ १ ॥
 शुभभावों से जो बँधे, पुण्य करम है सोय ।
 अशुभभाव से बंधे जो, पाप करम वह होय ॥ २ ॥

(सोरठा)

करम-बन्ध न होय, जिन भावों से जगत् में ।
 धरम रूप हैं सोय, शुद्धभाव उनको कहें ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकार! अत्र अवतर-अवतर
 संवौषट् ।

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकार! अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ठः ठः ।

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकार ! अत्र मम सन्निहितो
 भव-भव वषट् । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(रोला)

जल

मोहभाव का मल हर लेता यह निर्मल जल ।
 राग-द्वेष के मलिन भाव धो देता यह जल ॥
 पुण्य-पाप के भाव चतुर्गति-भ्रमण करावें ।
 समतारसमय शुद्धभाव शिवपुर पहुँचावे ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय जन्मजरामत्युविनाशनाय
 जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

चन्दन

चन्दन सम शीतल शुद्धभाव को मेरा वन्दन ।
 भव-भव का भवताप शान्त कर देता चन्दन ॥
 पुण्य-पाप के भाव चतुर्गति-भ्रमण करावें ।
 समतारसमय शुद्धभाव शिवपुर पहुँचावे ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय संसारतापविनाशनाय
 चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

अक्षत

अचल अखण्डित अक्षत शुद्धभावमय जानो ।
 अमलानन्दमयी अद्भुत निज आतम मानो ॥
 पुण्य-पाप के भाव चतुर्गति-भ्रमण करावें ।
 समतारसमय शुद्धभाव शिवपुर पहुँचावे ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं
 निर्वपामीति स्वाहा ।

पुष्प

परम सुगन्धित पुष्प गन्ध विरहित आतम को ।
 परम शान्ति कैसे दें सुखमय परमातम को ॥
 पुण्य-पाप के भाव चतुर्गति-भ्रमण करावें ।
 समतारसमय शुद्धभाव शिवपुर पहुँचावे ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय कामबाणविध्वंसनाय
 पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

नैवेद्य

सरस सुगन्धित नेवज विषयानन्दमयी हैं ।
 अपने रस से भरा हुआ अपना आतम है ॥
 पुण्य-पाप के भाव चतुर्गति-भ्रमण करावें ।
 समतारसमय शुद्धभाव शिवपुर पहुँचावे ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय क्षुधारोगविनाशनाय
 नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

दीप

रतनत्रयी दीप की ज्योति अखण्डित होती ।
 स्वपरप्रकाशक भव्यभाव से मण्डित होती ॥
 पुण्य-पाप के भाव चतुर्गति-भ्रमण करावें ।
 समतारसमय शुद्धभाव शिवपुर पहुँचावे ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय मोहान्धकार -
 विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।

धूप

दश धर्मों से सहित दशांगी धर्म धरोहर ।
 दश द्रव्यों से बनी दशांगी धूप मनोहर ॥
 पुण्य-पाप के भाव चतुर्गति-भ्रमण करावें ।
 समतारसमय शुद्धभाव शिवपुर पहुँचावे ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय अष्टकर्मदहनाय धूपं..।

फल

अनुपम फल यह मधुर मिष्ट आनन्दमयी है ।
 अपना आतमराम स्वयं आनन्दमयी है ॥
 पुण्य-पाप के भाव चतुर्गति-भ्रमण करावें ।
 समतारसमय शुद्धभाव शिवपुर पहुँचावे ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय मोक्षफलप्राप्तये फलं...।

अर्घ्य

यह अनर्घ्य है अर्घ्य आपको अर्पित है यह ।
 पुण्य-पाप के ज्ञाताजन को अर्पित है यह ॥
 पुण्य-पाप के भाव चतुर्गति-भ्रमण करावें ।
 समतारसमय शुद्धभाव शिवपुर पहुँचावे ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं..।

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

अर्घ्यावली

(दोहा)

पुण्य-पाप दोऊ करम, शिवमग रोकनहार ।
पुण्य-पाप से पार है, आतम धरम अपार ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

इस अधिकार में सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्रदेव, आत्मख्याति टीका के रंगमंच पर 'एक ही कर्म को दो पात्रों के माध्यम से पुण्य और पाप - ऐसे दो रूपों में प्रस्तुत करते हैं' -

(हरिगीत)

शुभ अर अशुभ के भेद से, जो दोपने को प्राप्त हो ।
वह कर्म भी जिसके उदय से, एकता को प्राप्त हो ॥
जब मोहरज का नाश कर, सम्यक् सहित वह स्वयं ही ।
जग में उदय को प्राप्त हो, वह सुधा-निर्झर ज्ञान ही ॥ १०० ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपाप-शुभाशुभकर्म-एकत्वप्रकाशक-श्रीज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥१२॥

अब, आगामी कलश में 'शूद्र के जुड़वा बेटों के उदाहरण के माध्यम से पुण्य-पाप की एकता' को समझाते हैं -

(रोला)

दोनों जन्मे एक साथ, शूद्रा के घर में;
एक पला बामन के घर, दूजा निज घर में ।
एक छुए ना मद्य, ब्राह्मणत्वाऽभिमान से;
दूजा डूबा रहे, उसी में शूद्रभाव से ॥

(द्रुतविलम्बित)

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १०० ॥

जातिभेद के भ्रम से ही, यह अन्तर आया;
इस कारण अज्ञानी ने, पहिचान न पाया।

पुण्य-पाप भी कर्म-जाति के जुड़वा भाई!।

दोनों ही हैं हेय, मुक्ति-मार्ग में भाई! ॥ १०१ ॥

ॐ ह्रीं पुण्य-पापैकत्वप्रकाशक-श्रीज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ १५ ॥

अब, आगामी एक गाथा और एक कलश के द्वारा 'पुण्य-पाप में एकत्व का हेतु' बताते हैं -

(हरिगीत)

सुशील हैं शुभकर्म और, अशुभकर्म कुशील हैं।

संसार के हैं हेतु वे, कैसे कहें कि सुशील हैं? ॥ १४५ ॥

(रोला)

अरे! पुण्य अर पाप कर्म का हेतु एक है;

आश्रय अनुभव अर स्वभाव भी सदा एक है।

अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है;

भले-बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है ॥ १०२ ॥

ॐ ह्रीं पुण्य-पापैकत्वहेतुप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ १६ ॥

अब, दृष्टान्त सहित पाँच गाथाओं और एक कलश में कहते हैं कि 'शुभ और अशुभ दोनों ही कर्मबन्ध के कारण होने से समानरूप से हेय हैं' -

(मन्दाक्रान्ता)

एको दूरान्यजति मदिरां, ब्राह्मणत्वाभिमाना-

दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति, स्नाति नित्यं तथैव ।

द्वावप्येतौ युगपदुदरात्, निर्गतौ शूद्रिकायाः;

शूद्रौ साक्षादपि च चरतो, जातिभेदभ्रमेण ॥ १०१ ॥

(गाथा)

कम्ममसुहं कुशीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुशीलं।

कह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १४५ ॥

(उपजाति)

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।

तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥ १०२ ॥

(हरिगीत)

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती, त्यों स्वर्ण की भी बाँधती ।
 इस भाँति ही शुभ-अशुभ, दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ॥ १४६ ॥
 दुःशील के संसर्ग से, स्वाधीनता का नाश हो ।
 दुःशील से संसर्ग एवं, राग को तुम मत करो ॥ १४७ ॥
 जगत्जन जिस तरह कुत्सित-शील जन को जानकर ।
 उस पुरुष से संसर्ग एवं, राग करना त्यागते ॥ १४८ ॥
 बस! उसतरह ही कर्म कुत्सित-शील हैं यह जानकर ।
 निजभावरत जन कर्म से, संसर्ग को हैं त्यागते ॥ १४९ ॥
 विरक्त शिव-रमणी वरें, अनुरक्त बाँधें कर्म को ।
 जिनदेव का उपदेश यह, मत कर्म में अनुरक्त हो ॥ १५० ॥

(दोहा)

जिनवाणी का मर्म यह, बन्ध करें सब कर्म ।
 मुक्ति-हेतु बस! एक ही, आत्मज्ञानमय धर्म ॥ १०३ ॥

ॐ ह्रीं शुभाशुभकर्म-समानबन्धहेतुत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥१७॥

अब, आगामी कलश और एक गाथा में यह कहते हैं कि 'शुभाशुभकर्म दोनों का निषेध कर देने से मुनिजन अशरण नहीं होंगे, अपितु उनके लिए उनका ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वयं परम शरणभूत है' -

(गाथा)

सोवणियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
 बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६ ॥
 तम्हा दु कुसीलेहिं य रागं मा कुणह मा व संसग्गं ।
 साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७ ॥
 जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
 वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च ॥ १४८ ॥
 एमेव कम्मपयडी - सीलसहावं च कुच्छिदं णादुं ।
 वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा ॥ १४९ ॥
 रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो ।
 एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥

(स्वागता)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
 तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥ १०३ ॥

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से।

अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में ॥

अरे! मुनीश्वर तो निश-दिन निज में ही रहते।

निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥ १०४ ॥

(हरिगीत)

परमार्थ है है ज्ञानमय, है समय-शुध-मुनि-केवली।

इसमें रहें थिर अचल जो, निर्वाण पावें वे मुनी ॥ १५१ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानात्मक-शरणप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि.स्वाहा ॥१८॥

अब, आगामी दो गाथाओं में कहते हैं कि 'परमार्थस्वरूप आत्मा का आश्रय किये बिना व्रतादि सर्व क्रियाकाण्ड निरर्थक हैं' -

(हरिगीत)

परमार्थ से हों दूर, पर तप करें, व्रत-धारण करें।

सब बालतप हैं बालव्रत, वृषभादि सब जिनवर कहें ॥ १५२ ॥

व्रत-नियम सब धारण करें, तप-शील भी पालन करें।

पर दूर हों परमार्थ से, ना मुक्ति की प्राप्ति करें ॥ १५३ ॥

ॐ ह्रीं शुद्धात्माऽऽश्रयरहित-व्रतादिनिरर्थकत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१९॥

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन्, सुकृतदुरिते कर्मणि किल;

प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये, न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।

तदा ज्ञाने ज्ञानं, प्रतिचरितमेषां हि शरणं;

स्वयं विन्दन्त्येते, परमममृतं तत्र निरताः ॥ १०४ ॥

(गाथा)

परमद्वो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी गाणी।

तम्हि द्विदा सहावे मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ॥ १५१ ॥

परमद्वम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।

तं सव्वं बालतवं बालवदं बेति सव्वण्हू ॥ १५२ ॥

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।

परमद्वुबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विदंति ॥ १५३ ॥

अब, 'ज्ञानस्वरूपी आत्मा का अनुभव ही मोक्ष का हेतु है, अतः उसी के अनुभव की प्रेरणा' आगामी कलश में देते हैं -

(रोला)

ज्ञानरूप ध्रुव अचल आत्मा का ही अनुभव ।

मोक्षरूप है स्वयं अतः वह मोक्षहेतु है ॥

शेष भाव सब बन्धरूप हैं बन्धहेतु हैं ।

इसीलिए तो अनुभव करने का विधान है ॥ १०५ ॥

ॐ ह्रीं मोक्षहेतुभूत-ज्ञानस्वरूपाऽऽत्मानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १०० ॥

अब, कहते हैं कि 'वास्तविक मोक्षमार्ग को नहीं जाननेवाले अज्ञानी ही पुण्य को चाहते हैं' -

(हरिगीत)

परमार्थ से हैं बाह्य वे, जो मोक्षमग नहीं जानते ।

अज्ञान से भव-गमन-कारण, पुण्य को हैं चाहते ॥ १५४ ॥

ॐ ह्रीं पुण्यकर्म-पक्षपातिनः प्रतिबोधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ १०१ ॥

अब, आगामी गाथा में 'परमार्थ मोक्षमार्ग' को बताते हैं -

(हरिगीत)

जीवादि का श्रद्धान सम्यक्, ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।

रागादि का परिहार चारित - यही मुक्तिमार्ग है ॥ १५५ ॥

ॐ ह्रीं परमार्थमोक्षमार्गप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं..... ॥ १०२ ॥

(शिखरिणी)

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं

शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।

अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्

ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥ १०५ ॥

(गाथा)

परमदुबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।

संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥ १५४ ॥

जीवादीसद्धणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।

रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ १५५ ॥

अब, 'परमार्थ का आश्रय करनेवाले सन्तों के ही कर्मक्षय होता है', यह इस आगामी गाथा में कहते हैं -

(हरिगीत)

विद्वानगण भूतार्थं तज, वर्तनं करे व्यवहार में ।

पर कर्म-क्षय तो कहा है, परमार्थ-आश्रित सन्त के ॥ १५६ ॥

ॐ ह्रीं कर्मक्षय-परमार्थकारणप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं ॥१०३॥

अब, आगे तीन कलशों में युक्ति सहित 'ज्ञानस्वभावरूप परिणमन को ही मोक्ष का कारण और शुभाशुभभावरूप परिणमन को बन्ध का कारण', सिद्ध करते हुए कर्म का निषेध करते हैं -

(दोहा)

ज्ञानभाव का परिणमन, ज्ञानभावमय होय ।

एकद्रव्य-स्वभाव यह, हेतु मुक्ति का होय ॥ १०६ ॥

कर्मभाव का परिणमन, ज्ञानरूप ना होय ।

द्रव्यान्तर-स्वभाव यह, इससे मुक्ति न होय ॥ १०७ ॥

बन्धस्वरूपी कर्म यह, शिवमग-रोकनहार ।

इसीलिए अध्यात्म में, है निषिद्ध शत वार ॥ १०८ ॥

ॐ ह्रीं मोक्षमार्गतिरोधायीकर्मनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं .. ॥१०४॥

अब, आगामी तीन गाथाओं में 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चास्त्रि - इन मोक्ष के हेतुओं के नाशक मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय को उदाहरण सहित समझाते हैं' -

(गाथा)

मोक्षूण णिच्छयदुं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।

परमदुमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥ १५६ ॥

(अनुष्टुभ)

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।

एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ १०६ ॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।

द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ १०७ ॥

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।

मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥ १०८ ॥

(हरिगीत)

ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का, मैल के संयोग से ।
 सम्यक्त्व भी त्यों नष्ट हो, मिथ्यात्व-मल के लेप से ॥ १५७ ॥
 ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का, मैल के संयोग से ।
 सदज्ञान भी त्यों नष्ट हो, अज्ञान-मल के लेप से ॥ १५८ ॥
 ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का, मैल के संयोग से ।
 चारित्र भी त्यों नष्ट होय, कषाय-मल के लेप से ॥ १५९ ॥

ॐ ह्रीं दृष्टान्तपुरस्सर-रत्नत्रयतिरोधायीभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ॥१०५॥

अब, आगे 'शुभाशुभकर्म को केवल बन्ध का कारण ही नहीं, बल्कि
 स्वयं बन्धस्वरूप निरूपित करते हैं' -

(हरिगीत)

सर्वदर्शी सर्वज्ञानी, कर्मरज आछन्न हो ।
 संसार को सम्प्राप्त कर, सबको न जाने सर्वतः ॥ १६० ॥

ॐ ह्रीं कर्मणः स्वयं बन्धस्वरूपत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ॥१०६॥

अब, आगे तीन गाथाओं में 'मोक्षमार्गस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र
 को रोकनेवाले कर्मों को बताते हैं' -

(गाथा)

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
 मिच्छत्तमलोच्छणं तह सम्मत्तं खु णादत्वं ॥ १५७ ॥
 वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
 अण्णाणमलोच्छणं तह णाणं होदि णादत्वं ॥ १५८ ॥
 वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
 कसायमलोच्छणं तह चारित्तं पि णादत्वं ॥ १५९ ॥
 सो सव्वणाणदरिसी कम्मरण णियेणावच्छणो ।
 संसारसमावणो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

(हरिगीत)

सम्यक्त्व-प्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवर ने कहा ।
 उसके उदय से जीव, मिथ्यादृष्टि होता है सदा ॥ १६१ ॥
 सद्ज्ञान-प्रतिबन्धक करम, अज्ञान जिनवर ने कहा ।
 उसके उदय से जीव, अज्ञानी बने यह जानना ॥ १६२ ॥
 चारित्र-प्रतिबन्धक करम, जिन ने कषायों को कहा ।
 उसके उदय से जीव, चारित्रहीन हो यह जानना ॥ १६३ ॥

ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रप्रतिबन्धक-कर्मप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
 अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १०७ ॥

अब, कहते हैं कि 'जब समस्त कर्म त्याग करने योग्य ही है, तब उनमें
 पुण्य-पाप का भेद करना उचित ही नहीं है' -

(हरिगीत)

त्याज्य ही हैं जब, मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये ।
 तब पुण्य एवं पाप की, यह बात करनी किसलिए ? ॥
 निज आत्मा के लक्ष्य से, जब परिणामन हो जाएगा ।
 निष्कर्म में ही रस जगे, तब ज्ञान दौड़ा आयगा ॥ १०९ ॥

ॐ ह्रीं पुण्यपापयोः समानहेयत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं ... ॥ १०८ ॥

अब, आगामी दो कलशों में यह कहते हैं कि 'यद्यपि पुण्यभावरूप कर्म
 भी मुक्तिमार्ग का विरोधी भाव है, तथापि जब तक पूर्ण कर्मविरति नहीं होती
 है, तब तक ज्ञानधारा और कर्मधारा एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है' -

(गाथा)

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
 तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो ॥ १६१ ॥
 णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।
 तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥ १६२ ॥
 चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
 तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥ १६३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्, कर्मैव मोक्षार्थिना;
 संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा, पुण्यस्य पापस्य वा ।
 सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनात्, मोक्षस्य हेतुर्भवन्;
 नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं, ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १०९ ॥

(हरिगीत)

यह कर्म-विरति जब तलक, ना पूर्णता को प्राप्त हो ।
 हाँ, तब तलक यह, कर्मधारा-ज्ञानधारा साथ हो ॥
 अवरोध इसमें है नहीं, पर कर्मधारा बन्धमय ।
 मुक्ति-मारग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय ॥ ११० ॥
 कर्मनय के पक्षपाती, ज्ञान से अनभिज्ञ हों ।
 ज्ञाननय के पक्षपाती, आलसी स्वच्छन्द हों ॥
 जो ज्ञानमय हों परिणमित, परमाद के वश में न हों ।
 कर्म-विरहित जीव वे, संसार-सागर पार हों ॥ १११ ॥

ॐ ह्रीं कर्मनय-ज्ञाननय-एकान्तनिषेधप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ॥ १०९ ॥

अब, इस अधिकार के अन्त में आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव, 'शुभ-
 अशुभ के भेद को दूर करनेवाले सम्यग्ज्ञान की महिमा' करते हैं -

(हरिगीत)

जग शुभ-अशुभ में भेद माने मोह-मदिरा-पान से ।
 पर भेद इनमें है नहीं, जाना है सम्यग्ज्ञान से ॥
 यह ज्ञानज्योति तम-विरोधी, खेले केवलज्ञान से ।
 जयवन्त हो इस जगत् में, जगमगै आतमज्ञान से ॥ ११२ ॥

ॐ ह्रीं शुभाशुभभेदनिषेधक-श्रीसम्यग्ज्ञानाय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ११० ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिः, ज्ञानस्य सम्यङ् न सा;
 कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितः, तावन्न काचित्क्षतिः ।
 किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो, यत्कर्म बन्धाय तत्;
 मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं, ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ ११० ॥

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा, ज्ञानं न जानन्ति यत्;
 मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
 विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं, ज्ञानं भवन्तः स्वयं;
 ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं, यान्ति प्रमादस्य च ॥ १११ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
 मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।
 हेलोन्मीलत्परमकलयया सार्धमारब्धकेलि
 ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जृम्भे भरेण ॥ ११२ ॥

जयमाला

(दोहा)

कर्ता-कर्म विभाव की, चर्चा के उपरान्त ।
 पुण्य-पाप की एकता, का करते व्याख्यान ॥ १ ॥
 पापकर्म ज्यों कर्म है, पुण्यकर्म भी कर्म ।
 दोनों ही तो कर्म हैं, इनमें कोड़ न धर्म ॥ २ ॥

(रोला)

पुण्य भला अर पाप बुरा सारा जग कहता ।
 पर निश्चय से इनमें कोई भेद नहीं है ॥
 कर्मबन्ध के कारण तो दोनों ही होते ।
 कर्मबन्ध कटने का कारण कोई नहीं है ॥ ३ ॥
 सोने की बेड़ी पुण्य, पाप लोहे की बेड़ी ।
 पर दोनों बन्धन का कारण ही होती हैं ॥
 दोनों में से कोई नहीं मुक्ति का कारण ।
 परम सत्य का उद्घाटन जिनवाणी करती ॥ ४ ॥
 पुण्योदय से मिलती हमें भोग सामग्री ।
 उसे भोगने से बँधता है पाप निरन्तर ॥
 पापोदय से सभी भयंकर दुख को भोगें ।
 इस तरह पुण्य भी हो जाता दुखों का कारण ॥ ५ ॥
 पुण्य-पाप है कर्म जाति के जुड़वा भाई ।
 दोनों से ही कर्मबन्ध निश्चित होता है ॥
 अरे! धर्म तो है अबन्ध का कारण भाई ।
 पुण्य धर्म कैसे हो सकता बोलो भाई ॥ ६ ॥

अरे! पुण्य जो कर्म आज वह धर्म बन रहा ।
 जो है पूरण हेय किन्तु आदेय बन रहा ॥
 उपादेय तो एकमात्र बस! वीतरागता ।
 परम धरम है एकमात्र यह वीतरागता ॥ ७ ॥
 रागभाव में धर्म नहीं है निश्चित जानो ।
 रागभाव तो भव का कारण निश्चित मानो ॥
 करो राग का त्याग राग है अपना वैरी ।
 परमधर्म है वीतरागता भव की वैरी ॥ ८ ॥

(दोहा)

पुण्य-पाप को त्याग कर, धारो अपना भाव ।
 पुण्य-पाप अधिकार का, इतना ही है सार ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं पुण्य-पापैकत्वप्रतिपादक-श्रीपुण्यपापाधिकाराय जयमाला पूर्णार्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ।

पुण्य-पाप के त्याग की, महिमा अपरम्पार ।
 पुण्य-पाप को त्याग कर, हो जावो भव-पार ॥ १० ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

पुण्य-पाप दोनों दुःखरूप हैं

भाई! तू पाप-पुण्य में हेयापादेयपना मानकर अर्थात् पुण्य को भला व पाप को बुरा मानकर दुःख के पहाड़ के तले दब गया है । प्रभु! पुण्य-पाप के दोनों ही भाव स्वयं दुःखरूप हैं तथा दुःख के कारण हैं, आकुलतामय हैं; क्योंकि दोनों ही भाव स्वभाव से विरुद्धभाव हैं । ऐसे स्वभावविरुद्धभावों में जो भेद न देखकर एक कर्मरूप ही मानता है, उसे पर की अपेक्षा बिना स्वतः सम्यग्ज्ञानरूप चन्द्रमा उदित होता है ।

-प्रवचनरत्नाकर भाग-५, पृष्ठ-४

आस्रव-संवर अधिकार पूजन

स्थापना

(दोहा)

पुण्य-पाप के भाव सब, हैं आस्रव दुखकार ।
 यह आतम आस्रव रहित, परम धरम सुखकार ॥ १॥
 अपनापन शुद्धात्म में, अपने में ही लीन ।
 होना ही संवर कहा, जिनवर परम प्रवीण ॥ २॥
 मुक्तिमूल संवर कहा, आस्रव है भवमूल ।
 संवर को अपनाइये, जो चाहो भवकूल ॥ ३॥

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक-आस्रव-संवराधिकारौ अत्र अवतरत-
 अवतरत संवौषट् ।

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक-आस्रव-संवराधिकारौ अत्र तिष्ठत-तिष्ठत
 ठः ठः ।

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक-आस्रव-संवराधिकारौ अत्र मम सन्निहितो
 भवत-भवत वषट् । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(रोला)

जल

यह जल परम पवित्र, आतमा को धोता है ।
 निर्मल जल से आत्मभाव, निर्मल होता है ॥
 छोड़ दीजिये दुःखरूप आस्रव भावों को ।
 ग्रहण कीजिये सुख स्वरूप संवर भावों को ॥

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक-आस्रव-संवराधिकाराभ्यां जन्मजरामत्यु
 विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

चन्दन

अरे! आतमा चन्दन-सम शीतल होता है।
 भव-भव का भवताप-हरण मंगल होता है ॥
 छोड़ दीजिये दुःखरूप आस्रव भावों को।
 ग्रहण कीजिये सुख स्वरूप संवर भावों को ॥

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक -आस्रव-संवराधिकाराभ्यां संसारताप
 विनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

अक्षत

अरे! आतमा अक्षत-सा अक्षत होता है।
 अक्षत पद की प्राप्ति हेतु अक्षत होता है ॥
 छोड़ दीजिये दुःखरूप आस्रव भावों को।
 ग्रहण कीजिये सुख स्वरूप संवर भावों को ॥

ॐ ह्रीं आस्रवसंवरतत्त्वप्ररूपक-आस्रवसंवराधिकाराभ्यां अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं...।

पुष्प

सुर-तरु पुष्पों के समान जो सुन्दरतम है।
 पावन आतमराम परम पावन मनहर है ॥
 छोड़ दीजिये दुःखरूप आस्रव भावों को।
 ग्रहण कीजिये सुख स्वरूप संवर भावों को ॥

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक -आस्रव-संवराधिकाराभ्यां कामबाण
 विध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

नैवेद्य

नानाविध नैवेद्य सरस अपने भावों के ।
 विध-विध के पकवान बनाये निजभावों के ॥
 छोड़ दीजिये दुःखरूप आस्रव भावों को।
 ग्रहण कीजिये सुख स्वरूप संवर भावों को ॥

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक -आस्रव-संवराधिकाराभ्यां क्षुधारोगविनाशनाय
 नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

दीप

स्वपरप्रकाशक दीप विविध रत्नों की रचना।
 मोह तिमिर का सर्वनाश करने को अपना ॥
 छोड़ दीजिये दुःखरूप आस्रव भावों को।
 ग्रहण कीजिये सुख स्वरूप संवर भावों को ॥

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक-आस्रव-संवराधिकाराभ्यां मोहान्धकार
 विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।

धूप

दशधर्मों की धूप दशांगी लेकर आया।
 धूपायन में अरे! जला कर्मों को लाया ॥
 छोड़ दीजिये दुःखरूप आस्रव भावों को।
 ग्रहण कीजिये सुख स्वरूप संवर भावों को ॥

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक-आस्रव-संवराधिकाराभ्यां अष्ट-कर्म-दहनाय
 धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

फल

उत्तम फल पाने को उत्तम फल ले आया।
 अनुपम अद्भुत शान्तिरूप उत्तम फल पाया ॥
 छोड़ दीजिये दुःखरूप आस्रव भावों को।
 ग्रहण कीजिये सुखस्वरूप संवर भावों को ॥

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक-आस्रवसंवराधिकाराभ्यां मोक्षफलप्राप्तये
 फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

अर्घ्य

संवरमय अर्घ्य अनर्घ्य निरोधक राग-द्वेष का।
 रुक जाता है स्वयं अरे! कर्मों का आस्रव ॥
 छोड़ दीजिये दुःखरूप आस्रव भावों को।
 ग्रहण कीजिये सुख स्वरूप संवर भावों को ॥

ॐ ह्रीं आस्रव-संवरतत्त्वप्ररूपक -आस्रव-संवराधिकाराभ्यां
 अनर्घ्यपदप्राप्तयेऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

अर्घ्यावली

॥आस्रव अधिकार॥

(दोहा)

पुण्य-पाप के भाव सब, हैं आस्रव दुःखकार ।
यह आतम आस्रव रहित, परम धरम सुखकार ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

इस अधिकार के आरम्भ में आचार्य अमृतचन्द्रदेव, 'आस्रव को रंगमंच पर प्रवेश करा कर, आस्रवभाव को परास्त करनेवाले सम्यग्ज्ञान की महिमा' करते हैं -

(हरिगीत)

सारे जगत् को मथ रहा, उन्मत्त आस्रवभाव यह ।
समरांगण में समागत, मदमत्त आस्रवभाव यह ॥
मर्दन किया रणभूमि में, इस भाव को जिस ज्ञान ने ।
वह धीर है गम्भीर है, हम रमें नित उस ज्ञान में ॥ ११३ ॥
ॐ ह्रीं आस्रवभावनिरोधक-श्रीसम्यग्ज्ञानाय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ १११ ॥
अब, आगामी दो गाथाओं में 'आस्रवभाव का स्वरूप' कहते हैं -

(हरिगीत)

मिथ्यात्व अविरति योग और, कषाय चेतन-अचेतन ।
चितरूप जो हैं वे सभी, चैतन्य के परिणाम हैं ॥ १६४ ॥
ज्ञानावरण आदिक अचेतन, कर्म के कारण बने ।
उनका भी तो कारण बने, रागादि कारक जीव यह ॥ १६५ ॥
ॐ ह्रीं आस्रवतत्त्वस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ ११२ ॥

(द्रुतविलंबित)

अथ महामदनिर्भरमंथरं समररंगपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगंभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥ ११३ ॥

(गाथा)

मिच्छतं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥ १६४ ॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥ १६५ ॥

अब, 'सम्यग्ज्ञानी को आस्रव नहीं है', ऐसा अगली गाथा में कहते हैं -

(हरिगीत)

है नहीं आस्रव-बन्ध, क्योंकि आस्रवों का रोध है।

सद्दृष्टि उनको जानता, जो कर्म पूर्व निबद्ध हैं ॥ १६६ ॥

ॐ ह्रीं सम्यग्दृष्टेराऽऽस्रवाऽभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ ११३ ॥

अब, यह कहते हैं कि 'वास्तविक आस्रव तो मोह-राग-द्वेष ही हैं' -

(हरिगीत)

जीवकृत रागादि ही, बन्धक कहे हैं सूत्र में।

रागादि से जो रहित वह, ज्ञायक अबन्धक जानना ॥ १६७ ॥

ॐ ह्रीं मोह-राग-द्वेषान् एवाऽऽस्रवप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ ११४ ॥

अब, 'ज्ञानी के रागादिभावों से अमिश्रितभाव ही उत्पन्न होता है और इसी कारण उसे बन्ध नहीं होता' - यह दृष्टान्तपूर्वक गाथा में कहते हैं -

(हरिगीत)

पक्व-फल जिस तरह गिर कर, नहीं जुड़ता वृक्ष से।

बस! उस तरह ही कर्म खिर कर, नहीं जुड़ते जीव से ॥ १६८ ॥

ॐ ह्रीं श्री ज्ञानिनः रागाद्यऽसंकीर्णभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ ११५ ॥

अब, आगामी कलश में कहते हैं कि 'ज्ञानमय भाव, सर्व भावास्रवों के अभावस्वरूप' होते हैं -

(गाथा)

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्टिस्स आसवणिरोहो।

संते पुट्ठणिवद्धे जाणदि सो ते अबंधंती ॥ १६६ ॥

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।

रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥ १६७ ॥

पक्के फलमिह पडिं जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।

जीवस्स कम्मभावे पडिं ण पुणोदयमुवेदि ॥ १६८ ॥

(हरिगीत)

इन द्रव्य कर्मों के पहाड़ों के निरोधक भाव जो ।
हैं राग-द्वेष-विमोह बिन, सद्ज्ञान निर्मित भाव जो ॥
भावास्रवों से रहित, इस जीव के निजभाव हैं ।
वे ज्ञानमय शुद्धात्ममय, निज आत्मा के भाव हैं ॥ ११४ ॥

ॐ ह्रीं श्री भावाऽऽस्रवाऽभावरूप-ज्ञानमयभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ११६ ॥

अब, 'ज्ञानी जीवों के द्रव्यास्रवों का अभाव है', यह बात आगामी गाथा
और एक कलश में कहते हैं -

(हरिगीत)

जो बँधे थे भूत में वे कर्म पृथ्वीपिण्ड सम ।
वे सभी कर्म शरीर से हैं, बद्ध सम्यग्ज्ञानी के ॥ १६९ ॥

(दोहा)

द्रव्यास्रव से भिन्न है, भावास्रव को नाश ।
सदा ज्ञानमय निरास्रव, ज्ञायकभाव प्रकाश ॥ ११५ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानिनः द्रव्याऽऽस्रवाऽभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ ११७ ॥

अब, 'बन्धनबद्ध ज्ञानी निरास्रव कैसे हो सकता है?' इस प्रश्न का उत्तर
आगामी तीन गाथाएँ एवं एक कलश में देते हैं -

(शालिनी)

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत एव ।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥ ११४ ॥

(गाथा)

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सत्त्वे वि णाणिस्स ॥ १६९ ॥

(उपजाति)

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥ ११५ ॥

(हरिगीत)

प्रतिसमय विध विध कर्म को, सब ज्ञान-दर्शन गुणों से।
 बाँधे चतुर्विध प्रत्यय ही ज्ञानी अबंधक इसलिए ॥ १७० ॥
 ज्ञानगुण का परिणमन जब हो जघन्यहि रूप में।
 अन्यत्व में परिणमे तब इसलिए ही बंधक कहा ॥ १७१ ॥
 ज्ञान-दर्शन-चरित गुण जब जघनभाव से परिणमे।
 तब विविध पुद्गलकर्म से, इसलोक में ज्ञानी बँधे ॥ १७२ ॥

(कुण्डलिया)

स्वयं सहज परिणाम से, कर दीना परित्याग।
 सम्यग्ज्ञानी जीव ने, बुद्धिपूर्वक राग ॥
 बुद्धिपूर्वक राग, त्याग दीना है जिसने।
 और अबुद्धिक राग, त्याग करने को जिसने ॥
 निज-शक्ति-स्पर्श, प्राप्त कर पूर्णभाव को।
 रहे निरास्रव सदा, उखाड़े परपरिणति को ॥ ११६ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानिनः निरास्रवत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥११८॥

अब, 'समस्त द्रव्यास्रवों की सन्तति विद्यमान होने पर भी ज्ञानी निरास्रव कैसे हो सकता है?' - ऐसा प्रश्न, एक कलश के माध्यम से उठाते हुए आगामी चार गाथाओं एवं एक कलश के द्वारा इसका उत्तर देते हैं -

(गाथा)

चउविह अणोयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
 समए समए जम्हा तेण अबंधो ति णाणी दु ॥ १७० ॥
 जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
 अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भण्णिदो ॥ १७१ ॥
 दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
 णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं, रागं समग्रं स्वयं;
 वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं, जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
 उच्छिन्दन्परवृत्तिमेव सकलां, ज्ञानस्य पूर्णो भवन्;
 आत्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥ ११६ ॥

(दोहा)

द्रव्यास्रव की सन्तति, विद्यमान सम्पूर्ण ।
फिर भी ज्ञानी निरास्रव, कैसे हो परिपूर्ण? ॥ ११७ ॥

(हरिगीत)

पहले बँधे सदृष्टिओं के, कर्मप्रत्यय सत्त्व में ।
उपयोग के अनुसार वे ही, कर्म का बन्धन करें ॥ १७३ ॥
अनभोग्य हो उपभोग्य हों, वे सभी प्रत्यय जिसतरह ।
ज्ञान-आवरणादि वसुविध, कर्म बाँधे उसतरह ॥ १७४ ॥
बाल वनिता की तरह, वे सत्त्व में अनभोग्य हैं ।
पर तरुण वनिता की तरह, उपभोग्य होकर बाँधते ॥ १७५ ॥
बस इसलिए सदृष्टियों को, अबन्धक जिन ने कहा ।
क्योंकि आस्रवभाव बिन, प्रत्यय न बन्धन कर सके ॥ १७६ ॥

(हरिगीत)

पूर्व में जो द्रव्य प्रत्यय बँधे थे अब वे सभी ।
निजकाल पाकर उदित होंगे, सुप्त सत्ता में अभी ॥
यद्यपि वे हैं अभी पर, राग-द्वेषाभाव से ।
अन्तर अमोही ज्ञानियों को, बन्ध होता है नहीं ॥ ११८ ॥

ॐ ह्रीं द्रव्यप्रत्यय-सन्ततौ अपि ज्ञानिनः निरास्रवत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ११९ ॥

(गाथा)

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया अत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥ १७३ ॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥ १७४ ॥
संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥ १७५ ॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥ १७६ ॥

(अनुष्टुभ्)

सर्वस्यामेव जीवंत्यां, द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी, नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥ ११७ ॥

(मालिनी)

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः, समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासादवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥ ११८ ॥

अब, 'ज्ञानी के मोह-राग-द्वेष नहीं होने से वह अबन्धक है', यह एक कलश और दो गाथाओं में कहते हैं -

(दोहा)

राग-द्वेष अर मोह ही, केवल बन्धक भाव ।

ज्ञानी के ये हैं नहीं, तातैं बन्ध अभाव ॥ ११९ ॥

(हरिगीत)

रागादि आस्रवभाव जो, सदृष्टियों के वे नहीं ।

इसलिए आस्रवभाव बिन, प्रत्यय न हेतु बन्ध के ॥ १७७ ॥

अष्टविध कर्मों के कारण, चार प्रत्यय ही कहे ।

रागादि उनके हेतु हैं, उनके बिना बन्धन नहीं ॥ १७८ ॥

ॐ ह्रीं मोह-राग-द्वेषाभावे ज्ञानिनः अबन्धप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १२० ॥

अब, आगामी दो कलशों में 'शुद्धनय के ग्रहण से लाभ एवं उसके त्याग से होनेवाली हानि से परिचित कराते हैं' -

(हरिगीत)

सदा उद्धत चिह्न वाले, शुद्धनय अभ्यास से ।

निज आत्म की एकाग्रता के, ही सतत अभ्यास से ॥

रागादि विरहित चित्तवाले, आत्मकेन्द्रित ज्ञानिजन ।

बन्ध विरहित अर अखण्डित, आत्मा को देखते ॥ १२० ॥

(अनुष्टुभ्)

राग-द्वेष-विमोहानां, ज्ञानिनो यदसम्भवः ।

तत एव न बन्धोऽस्य, ते हि बन्धस्य कारणम् ॥ ११९ ॥

(गाथा)

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।

तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होति ॥ १७७ ॥

हेदू चदुत्त्वियप्पो अट्टुवियप्पस्स कारणं भणिदं ।

तेसि पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥ १७८ ॥

(वसन्ततिलका)

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्रमेव कलयति सदैव ये ते ।

रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः पश्यन्ति बंधविधुरं समयस्य सारम् ॥ १२० ॥

च्युत हुए जो शुद्धनय से, बोध विरहित जीव वे।
पहले बँधे द्रव्यकर्म से, रागादि में उपयुक्त हो।
अरे! विचित्र विकल्पवाले, और विविध प्रकार के।
विपरीतता से भरे विध विध, कर्म का बन्धन करें॥ १२१ ॥

ॐ ह्रीं शुद्धनयस्य ग्रहण-त्यागयोः लाभ-हानिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा॥ १२१॥

अब, 'कर्मबन्ध प्रक्रिया' को दृष्टान्तपूर्वक दो गाथाओं में समझाते हैं -
(हरिगीत)

जगजन ग्रसित आहार ज्यों, जठराग्नि के संयोग से।
परिणमित होता वसा में, मज्जा रुधिर माँसादि में॥ १७९ ॥
शुद्धनय परिहीन ज्ञानी, के बँधे जो पूर्व में।
वे कर्म प्रत्यय ही जगत में, बाँधते हैं कर्म को॥ १८० ॥

ॐ ह्रीं शुद्धनयपरिहीन-ज्ञानिनः बन्धप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ १२२ ॥

अब, इस अधिकार का उपसंहार करते हुए आगामी दो कलशों में
'शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के आश्रय की प्रेरणा' देते हैं -
(हरिगीत)

इस कथन का सार यह, कि शुद्धनय उपादेय है।
अर शुद्धनय द्वारा निरूपित, आत्मा ही ध्येय है।
क्योंकि इसके त्याग से ही, बन्ध और अशान्ति है।
इसके ग्रहण में आत्मा की मुक्ति एवं शान्ति है॥ १२२ ॥

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः।

ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्॥ १२१ ॥

(गाथा)

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणामदि सो अणोयविहं।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो॥ १७९ ॥
तह पाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा॥ १८० ॥

(अनुष्टुभ्)

इदमेवात्र तात्पर्यं, हेयः शुद्धनयो न हि।

नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद् बन्ध एव हि॥ १२२ ॥

धीर और उदार महिमा, युत अनादि-अनन्त जो ।
 उस ज्ञान में थिरता करे, अर कर्मनाशक भाव जो ॥
 सद्ज्ञानियों को कभी भी, वह शुद्धनय ना हेय है ।
 विज्ञानघन इक अचल आतम, ज्ञानियों का ज्ञेय है ॥ १२३ ॥

ॐ ह्रीं शुद्धनयप्रयोजक-आत्मानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ॥ १२३ ॥

अब, आस्रव अधिकार का समापन करते हुए पुनः श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव,
 'सम्यग्ज्ञानियों की महिमा' करते हैं -

(हरिगीत)

निज आतमा जो परम वस्तु, उसे जो पहिचानते ।
 अर उसी में जो नित रमें अर, उसे ही जो जानते ॥
 वे आस्रवों का नाश कर, नित रहें आतम ध्यान में ।
 वे रहें निज में किन्तु, लोकालोक उनके ज्ञान में ॥ १२४ ॥

ॐ ह्रीं सम्यग्ज्ञानीमहिमाप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति
 स्वाहा ॥ १२४ ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(शार्दूलविक्रीडित)

धीरोदारमहिम्ननादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिं
 त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वकषः कर्मणाम् ।
 तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
 पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥ १२३ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
 नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः ।
 स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
 नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२४ ॥

॥ संवर अधिकार ॥

(दोहा)

अपनापन शुद्धात्म में, अपने में ही लीन ।
होना ही संवर कहा, जिनवर परम प्रवीण ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

इस अधिकार के प्रारम्भ में आचार्य अमृतचन्द्रदेव, संवर को रंगमंच पर प्रस्तुत करके आस्रव को परास्त करनेवाली ज्ञानज्योति की महिमा करते हैं -

(हरिगीत)

संवरजयी मद-मत्त आस्रव, भाव का अपलाप कर ।
व्यावृत्य हो पररूप से, सद्बोध संवर भास्कर ॥
प्रगटा परम आनन्दमय, निज आत्म के आधार से ।
सद्ज्ञानमय उज्वल धवल, परिपूर्ण निजरस-भार से ॥१२५॥

ॐ ह्रीं आस्रवं विजित्य संवरप्रापक-श्रीज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥१२५॥

यहाँ, सर्वप्रथम कुन्दकुन्दाचार्यदेव, 'सम्पूर्ण कर्मों के संवर करने के उत्कृष्ट उपायभूत भेदविज्ञान का अभिनन्दन' करते हैं -

(हरिगीत)

उपयोग में उपयोग है, क्रोधादि में उपयोग ना ।
बस! क्रोध में है क्रोध पर, उपयोग में है क्रोध ना ॥ १८१ ॥
अष्टविध द्रव्यकर्म में, नोकर्म में उपयोग ना ।
इस ही तरह उपयोग में भी, कर्म ना नोकर्म ना ॥ १८२ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसार-विरोधि-संवर-जयैकांतावलितास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥ १२५ ॥

(गाथा)

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥ १८१ ॥
अट्टवियप्पे कम्मं णोकम्मं चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥ १८२ ॥

विपरीतता से रहित इस विधि, जीव को जब ज्ञान हो।
उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी, ना करे तब आतमा ॥ १८३ ॥

ॐ ह्रीं भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-भेदविज्ञानप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १२६ ॥

अब, आगामी कलश में 'राग और ज्ञान में भेदविज्ञान' कराते हैं -
(हरिगीत)

यह ज्ञान है चिद्रूप, किन्तु राग तो जड़रूप है।
मैं ज्ञानमय आनन्दमय, पर राग तो पररूप है ॥
इस तरह के अभ्यास से, जब भेदज्ञान उदित हुआ।
आनन्दमय रसपान से, तब मनोभाव मुदित हुआ ॥ १२६ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानरागयोः भेदविज्ञानकारक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति
स्वाहा ॥ १२७ ॥

अब, 'भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि किस प्रकार होती है'
इसका उत्तर उदाहरण सहित दो गाथाओं में देते हैं -
(हरिगीत)

ज्यों अग्नि से संतप्त सोना स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्म से संतप्त ज्ञानी ज्ञानभाव नहीं तजे ॥ १८४ ॥

(गाथा)

एदं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥ १८३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः, कृत्वा विभागं द्वयोः;
अन्तर्दारुणदारणेन परितो, ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं, मोदध्वमध्यासिताः;
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना, सन्तो द्वितीयच्युताः ॥ १२६ ॥

(गाथा)

जह कणायमग्गितवियं पि कणायभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥ १८४ ॥

जानता यह ज्ञानि पर अज्ञानतम आछन्न जो ।

वे आतमा जानें न मानें राग को ही आतमा ॥ १८५ ॥

ॐ ह्रीं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलम्भप्ररूपक - श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १२८ ॥

अब, 'शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर किसप्रकार होता है', यह एक
गाथा व एक कलश में कहते हैं -

(हरिगीत)

जो जानता मैं शुद्ध हूँ, वह शुद्धता को प्राप्त हो ।

जो जानता अविशुद्ध, वह अविशुद्धता को प्राप्त हो ॥ १८६ ॥

(रोला)

भेदज्ञान के इस अविरल धारा-प्रवाह से ।

कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धातम को ॥

और निरन्तर उसमें ही थिर होता जावे ।

पर परिणति को त्याग निरन्तर शुध हो जावे ॥ १२७ ॥

ॐ ह्रीं शुद्धात्मोपलम्भादेव संवरप्ररूपक - श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १२९ ॥

अब, तीन गाथाओं में 'संवर किसप्रकार होता है' यह बताते हैं -

(हरिगीत)

पुण्य एवं पाप से, निज आतमा को रोक कर ।

अन्य आशा से विरत हो, ज्ञान-दर्शन में रहें ॥ १८७ ॥

एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं ।

अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥ १८५ ॥

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।

जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥ १८६ ॥

(मालिनी)

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।

तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ १२७ ॥

(गाथा)

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोगेसु ।

दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ॥ १८७ ॥

विरहित करम-नोकरम से, निज आत्म के एकत्व को ।
 निज आतमा को स्वयं ध्यावें, सर्व संग-विमुक्त हो ॥ १८८ ॥
 ज्ञान-दर्शन मय निजातम, को सदा जो ध्यावते ।
 अत्यल्प काल स्वकाल में, वे सर्व कर्म-विमुक्त हों ॥ १८९ ॥

(रोला)

भेदज्ञान की शक्ति से निजमहिमा रत को ।
 शुद्धतत्त्व की उपलब्धि निश्चित हो जावे ॥
 शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर उसके ।
 अतिशीघ्र ही सब कर्मों का क्षय हो जावे ॥ १२८ ॥

ॐ ह्रीं श्री संवरविधिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ १३० ॥

अब, 'संवर होने का क्रम' तीन गाथाओं में कहते हैं -

(हरिगीत)

बंध के कारण कहे हैं भाव अध्यवसान ही ।
 मिथ्यात्व अर अज्ञान अविरत-भाव एवं योग भी ॥ १९० ॥
 इनके बिना है आस्रवों का रोध सम्यग्ज्ञानि के ।
 अर आस्रवों के रोध से ही कर्म का भी रोध है ॥ १९१ ॥

जो सव्वसंगमुक्को ज्ञायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
 ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चित्तेदि एयत्तं ॥ १८८ ॥
 अप्पाणं ज्ञायंतो दंसणणाणमओ अणणमओ ।
 लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥ १८९ ॥

(मालिनी)

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः ।
 अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥ १२८ ॥

(गाथा)

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
 मिच्छत्तं अण्णाणं अविश्यभावो य जोगो य ॥ १९० ॥
 हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणरोहो ।
 आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥ १९१ ॥

कर्म के अवरोध से नोकर्म का अवरोध हो ।
नोकर्म के अवरोध से संसार का अवरोध हो ॥ १९२ ॥

ॐ ह्रीं श्री संवरक्रमप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ १३१ ॥

अब, इस संवर अधिकार के अन्त में उपसंहार करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव, चार कलशों में 'भेदज्ञान की महिमा' करते हैं -

(रोला)

आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो भेदज्ञान से,
आत्मतत्त्व की उपलब्धि से संवर होता ॥
इसीलिए तो सच्चे दिल से नितप्रति करना ।
अरे भव्यजन! भव्यभावना भेदज्ञान की ॥ १२९ ॥

अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की ।
सच्चे मन से बिन विराम के तबतक भाना ॥
जबतक पर से हो विरक्त यह ज्ञान ज्ञान में ।
ही थिरन हो जाय अधिक क्या कहें जिनेश्वर ॥ १३० ॥

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे ।
महिमा जानो एक मात्र सब भेदज्ञान की ॥
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में ।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं ॥ १३१ ॥

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ॥ १९२ ॥

(उपजाति)

सम्पद्यते संवर एष साक्षात्, शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्, तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ १२९ ॥

(अनुष्ठम्)

भावयेद्भेदविज्ञान - मिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा, ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ १३० ॥
भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ १३१ ॥

भेदज्ञान से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो ।
 शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागनाश हो ॥
 रागनाश से कर्मनाश अर कर्मनाश से ।
 ज्ञान ज्ञान में थिर होकर शाश्वत हो जावे ॥ १३२ ॥

ॐ ह्रीं भेदविज्ञानमहिमाप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. ॥१३२॥
 (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

जयमाला

(दोहा)

आस्रवभाव अभाव कर, प्रगटे संवरभाव ।
 आस्रवभाव विभाव है, संवरभाव स्वभाव ॥ १ ॥

(हरिगीत)

मिथ्यात्व अविरति योग और कषाय के परिणाम हैं ।
 ये सभी कारण बन्ध के हैं, सभी आस्रवभाव हैं ॥
 बन्ध रुकना इन सभी का, अरे! संवर जानना ।
 और होना इन सभी का, आस्रव ही मानना ॥ २ ॥

हैं हेय आस्रवभाव सब, उपादेय संवर जानना ।
 ज्ञेय लोकालोक हैं अर, ध्येय निज शुद्धात्मा ॥
 आस्रवों को छोड़ संवर भाव को अपनाइये ।
 जान लोकालोक को निज आत्मा को ध्याइये ॥ ३ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभा-
 द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
 बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
 ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ १३२ ॥

निज आतमा को ध्याइये, निज आत्म में रम जाइये।
 निज आतमा में लीन हो निज आत्म में जम जाइये॥
 निज आत्म में जम जाइये, निज आत्म में रम जाइये।
 निज आत्मा में समाकर, निज आत्ममय हो जाइये॥ ४॥

(दोहा)

आतम अपना भाव है, आतम में रम जाँय।
 आतम आतम जपत ही, आतम में जम जाँय॥५॥

ॐ ह्रीं श्री आस्रव-संवराधिकाराभ्यां जयमाला पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

(दोहा)

देखें आतमराम को, जानो आतमराम।
 आतम का अनुभव करो, ध्यावो आतमराम॥६॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

आत्मा बन्ध का कर्ता नहीं !

जो मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय अथवा तेरह गुणस्थानरूप तेरह प्रत्यय, बन्ध के कारण हैं, आस्रव हैं; वे उपयोगमयी आत्मा से भिन्न हैं, इस कारण आत्मा को बन्ध का कर्ता नहीं माना जा सकता है।

आत्मा को बन्ध का कर्ता मानने की भावना से यदि इन प्रत्ययों को आत्मा से अभिन्न माना जाएगा तो फिर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों से भी आत्मा को अभिन्न मानना होगा, जो कि किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है; क्योंकि कर्म और नोकर्म में एकत्व-ममत्व रखना और इनका कर्ता-भोक्ता आत्मा को मानना ही अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

- समयसार, ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका, पृष्ठ २००

निर्जरा अधिकार पूजन

स्थापना

(दोहा)

शुद्धात्म में रत रहो, यही श्रेष्ठ आचार ।
शुद्धात्म की साधना, कही निर्जरा सार ॥१॥

(हरिगीत)

शुद्धात्मा की रुचि संवर, साधना है निर्जरा ।
ध्रुवधाम निज भगवान की, आराधना है निर्जरा ॥
निर्भय दशा है निर्जरा, निर्मल दशा है निर्जरा ।
निज आत्मा की ओर बढ़ती, भावना है निर्जरा ॥२॥

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकार! अत्र अवतर-अवतर संवौषट् ।

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकार! अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ठः ठः ।

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकार! अत्र मम सन्निहितो भव-
भव वषट् । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(वीर)

जल

जल का स्वभाव इस दुनिया में, मिथ्यामल धोनेवाला है ।
निर्जरा शरण में यह बालक, मिथ्यामल धोने आया है ॥
यह आत्म की परिशुद्ध दशा, यह अद्भुत महिमाशाली है ।
निर्जरा परम उपयोगी है, यह मुक्ति दिलाने वाली है ॥

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं
निर्वपामीति स्वाहा ।

चन्दन

निर्जरा ताप हरने वाली, भवतपहर चन्दन शीतल है।
 भवताप शान्त करने को प्रभु! चरणों में आज महीतल है।।
 यह आतम की परिशुद्ध दशा, यह अद्भुत महिमाशाली है।
 निर्जरा परम उपयोगी है, यह मुक्ति दिलाने वाली है।।

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय संसारतापविनाशनाय चन्दनं
 निर्वपामीति स्वाहा।

अक्षत

भगवान आतमा अक्षत है, अक्षत पर्याय प्रगट होगी।
 और मोक्ष के पहले तो, निर्जर पर्याय प्रगट होगी।।
 यह आतम की परिशुद्ध दशा, यह अद्भुत महिमाशाली है।
 निर्जरा परम उपयोगी है, यह मुक्ति दिलाने वाली है।।

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं
 निर्वपामीति स्वाहा।

पुष्प

यह काम कामना का प्रतीक, यह पुष्प-बाण अर्पण करके।
 सम्पूर्ण कामनाओं को मैं, समभावों से तर्पण करके।।
 यह आतम की परिशुद्ध दशा, यह अद्भुत महिमाशाली है।
 निर्जरा परम उपयोगी है, यह मुक्ति दिलाने वाली है।।

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं
 निर्वपामीति स्वाहा।

नैवेद्य

यह क्षुधा-वेदना का प्रतीक, नैवेद्य सरस अर्पण करके।
 अब तो शिवपुर को जाऊँ मैं, चरणों में यह अर्पण करके।।
 यह आतम की परिशुद्ध दशा, यह अद्भुत महिमाशाली है।
 निर्जरा परम उपयोगी है, यह मुक्ति दिलाने वाली है।।

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं
 निर्वपामीति स्वाहा।

दीप

यह ज्ञान-प्रदीप आज लाया, मोहान्धकार हो नाश प्रभो ।
 हो केवलज्ञान-प्रकाश मुझे, जीवन में अब अज्ञान न हो ॥
 यह आतम की परिशुद्ध दशा, यह अद्भुत महिमाशाली है ।
 निर्जरा परम उपयोगी है, यह मुक्ति दिलाने वाली है ॥

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय मोहान्धकारविनाशयनाय दीपं... ।

धूप

रे! स्वयं जले यह धूप, स्वयं जलने से न बच पायेगी ।
 कर्म जलेंगे तभी प्रभो, जब आतम में रम जायेंगे ॥
 यह आतम की परिशुद्ध दशा, यह अद्भुत महिमाशाली है ।
 निर्जरा परम उपयोगी है, यह मुक्ति दिलाने वाली है ॥

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय अष्टकर्मदहनाय धूपं नि. स्वाहा ।

फल

शिवफल तो तभी मिलेगा प्रभु, जब जगफल की वाँछा न रहे ।
 यदि शिवफल चाहो तो भाई, जगफल की वाँछा नहीं करो ॥
 यह आतम की परिशुद्ध दशा, यह अद्भुत महिमाशाली है ।
 -----निर्जरा परम उपयोगी है, यह मुक्ति दिलाने वाली है ॥

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय मोक्ष-फल-प्राप्तये फलं... ।

अर्घ्य

सबसे अनर्घ्य है मुक्तिरमा, निज में रमने से मिलती है ।
 पर में ही निशदिन रमे रहें, उनको मुक्ति ना मिलती है ॥
 यह आतम की परिशुद्ध दशा, यह अद्भुत महिमाशाली है ।
 निर्जरा परम उपयोगी है, यह मुक्ति दिलाने वाली है ॥

ॐ ह्रीं निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय अनर्घ्यपदप्राप्तयेऽर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ।

अर्घ्यावली

(दोहा)

शुद्धातम में रत रहो, यही श्रेष्ठ आचार ।
शुद्धातम की साधना, कही निर्जरा सार ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

अब, आचार्य अमृतचन्द्रदेव, 'संवर के बाद निर्जरा को रंगभूमि में प्रवेश' करते हैं और ज्ञानज्योति की महिमा करते हैं -

(हरिगीत)

आगामी बन्धन रोकने, संवर सजग सन्नद्ध हो ।
रागादि के अवरोध से जब, कमर कस के खड़ा हो ॥
अर पूर्वबद्ध करम-दहन को निरजरा तैयार हो ।
तब ज्ञानज्योति यह अरे! नित ही अमूर्च्छित क्यों न हो ॥ १३३ ॥

ॐ ह्रीं संवरपूर्वकनिर्जराप्रापक-श्रीज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ १३३ ॥

यहाँ सर्वप्रथम आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव, 'द्रव्यनिर्जरा व भावनिर्जरा का स्वरूप' कहते हैं -

(हरिगीत)

चेतन-अचेतन द्रव्य का, उपभोग सम्यग्दृष्टि जन ।
जो इन्द्रियों से करें वह सब, निर्जरा का हेतु है ॥ १९३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां, धृत्वा परः संवरः,
कर्मागामि समस्तमेव भरतो, दूगत्रिरुन्धन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना, व्याजृम्भते निर्जरा,
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो, रागादिभिर्मूर्च्छति ॥ १३३ ॥

(गाथा)

उवभोगमिदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ ॥

सुख-दुख नियम से हों सदा, परद्रव्य के उपभोग से।
अर भोगने के बाद सुख-दुख, निर्जरा को प्राप्त हों ॥ १९४ ॥

ॐ ह्रीं द्रव्य-भावनिर्जरास्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १३४ ॥

अब, एक कलश और दो गाथाओं में उदाहरण सहित बताते हैं कि
'सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव, कर्मों को भोगते हुए भी कर्मों से बँधते नहीं, यह उनके
ज्ञान और वैराग्य की महिमा है' -

(हरिगीत)

ज्ञानी बँधे ना कर्म से, सब कर्म करते-भोगते।
यह ज्ञान की सामर्थ्य अर, वैराग्य का बल जानिये ॥ १३४ ॥

(हरिगीत)

ज्यों वैद्यजन मरते नहीं हैं, जहर के उपभोग से।
त्यों ज्ञानिजन बँधते नहीं हैं, कर्म के उपभोग से ॥ १९५ ॥
ज्यों अरुचिपूर्वक मद्य पीकर, मत्त जन होते नहीं।
त्यों अरुचि से उपभोग करते, ज्ञानिजन बँधते नहीं ॥ १९६ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञान-वैराग्यसामर्थ्यनिरूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ १३५ ॥

अब एक कलश व एक गाथा में यह कहते हैं कि 'वैराग्य के बल से
ज्ञानी विषय-सेवन करते हुए भी उनका असेवक' ही है -

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अध णिज्जरं जादि ॥ १९४ ॥

(अनुष्टुभ्)

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥ १३४ ॥

(गाथा)

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भंजुदि णेव बज्झदे णाणी ॥ १९५ ॥
जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥ १९६ ॥

(दोहा)

बँधे न ज्ञानी कर्म से, बल विराग अर ज्ञान ।
यद्यपि सेवें विषय को, तदपि असेवक जान ॥ १३५ ॥

(हरिगीत)

ज्यों प्रकरणगत चेष्टा करें पर, प्राकरणिक नहीं बनें ।
त्यो ज्ञानिजन सेवन करें पर, विषय सेवक नहीं बनें ॥ १९७ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञान-वैराग्यबलात् ज्ञानिनः विषयसेवनेऽपि असेवकस्वरूपप्ररूपक-
श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १३६ ॥

अब, आगामी कलश में यह कहते हैं कि 'ज्ञानी को नियम से ज्ञान व वैराग्य का बल' होता है -

(हरिगीत)

निजभाव को निज जान, अपनापन करे जो आतमा ।
परभाव से हो भिन्न नित, निज में रमे जो आतमा ॥
वे आतमा सदृष्टि उनके, ज्ञान अर वैराग्य बल ।
होनियम से यह जानिये, पहिचानिये निज आत्मबल ॥ १३६ ॥

ॐ ह्रीं सम्यग्दृष्टेः नियतज्ञान-वैराग्यशक्तिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १३७ ॥

(रथोद्धता)

नाश्रुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ १३५ ॥

(गाथा)

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्टा कस्स वि ण य पायरणो ति सो होदि ॥ १९७ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं, ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं, स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं, तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्, सर्वतो रागयोगात् ॥ १३६ ॥

अब, 'सम्यग्दृष्टि, स्व-पर को भिन्न जानता हुआ नियम से ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न किसप्रकार होता है' - यह आगामी तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं -

(हरिगीत)

उदय कर्मों के विविध-विध, सूत्र में जिनवर कहें।
किन्तु वे मेरे नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥ १९८ ॥
पुद्गल करम है राग, उसके उदय ये परिणाम हैं।
किन्तु ये मेरे नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥ १९९ ॥
इसतरह ज्ञानी जानते, ज्ञायकस्वभावी आतमा।
कर्मोदयों को छोड़ते, निजतत्त्व को पहिचान कर ॥ २०० ॥

ॐ ह्रीं स्वपरभेदविज्ञानसम्पन्न-सम्यग्दृष्टिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ १३८ ॥

अब, आगामी कलश में कहते हैं कि 'सम्यग्दर्शन के बिना सच्चे अणुव्रत-महाव्रत भी नहीं होते, सच्ची समितियाँ भी नहीं होती' -

(हरिगीत)

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, हूँ बन्ध से विरहित सदा।
यह मानकर अभिमान में, पुलकित वदन मस्तक उठा ॥
जो समिति आलम्बे, महाव्रत आचरें पर पापमय।
दिग्मूढ़ जीवों का अरे! जीवन नहीं अध्यात्ममय ॥ १३७ ॥

ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनाऽभावे महाव्रतादीनां निरर्थकत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १३९ ॥

(गाथा)

उदयविवागो विविहो कम्माणं वणिणदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को ॥ १९८ ॥
पोग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमेक्को ॥ १९९ ॥
एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो ॥ २०० ॥

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टिः, स्वयमयमहं, जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्, पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां, समितिपरतां, ते यतोऽद्यापि पापा,
आत्माऽनात्माऽवगमविरहात्, सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥ १३७ ॥

अब, 'रागी, सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता?', यह दो गाथाओं में कहते हैं -

(हरिगीत)

अणुमात्र भी रागादि का, सद्भाव है जिस जीव के।
वह भले ही हो सर्व आगम-धर न जाने जीव को ॥ २०१ ॥
जो न जाने जीव को, वे अजीव भी जानें नहीं।
कैसे कहें सद्दृष्टि जीवाजीव जब जानें नहीं? ॥ २०२ ॥

ॐ ह्रीं भेदज्ञानाऽभावे सम्यग्दर्शनाऽभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १४० ॥

अब, आगामी कलश में आचार्य, 'अनादिकाल से मोहनीद में सोये हुये
जीवों को निजपद के अनुभव की प्रेरणा' देते हैं -

(हरिगीत)

अपदपद में मत्त नित, अन्धे जगत् के प्राणियों!।
यह पद तुम्हारा पद नहीं, निज जानकर क्यों सो रहे? ॥
जागो, इधर आओ, रहो नित, मगन परमानन्द में।
हो परमपदमय तुम स्वयं, तुम स्वयं हो चैतन्यमय ॥ १३८ ॥

ॐ ह्रीं अनादिमोहोपशान्त्यर्थं निजपदानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १४१ ॥

(गाथा)

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥ २०१ ॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २०२ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

आसंसारत्प्रतिपदममी, रागिणो नित्यमत्ताः,
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं, तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतैतः पदमिदमिदं, यत्र चैतन्यधातुः;
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः, स्थायिभावत्वमेति ॥ १३८ ॥

अब यहाँ आचार्य कुन्दकुन्ददेव, 'वह निजपद क्या है?' यह एक गाथा और एक कलश में बताते हैं -

(हरिगीत)

स्वानुभूतिगम्य है जो, नियत थिर निजभाव ही ।
अपद पद सब छोड़ ग्रह वह, एक नित्यस्वभाव ही ॥ २०३ ॥

(हरिगीत)

अरे! जिसके सामने हों, सभी पद भासित अपद ।
सब आपदाओं से रहित, आराध्य है वह ज्ञान पद ॥ १३९ ॥

ॐ ह्रीं स्वानुभूतिगम्य-निजपदप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ १४२ ॥

अब, 'ज्ञानस्वरूप निजपद ही निर्वाण का कारण है; अतः उसी के अनुभव की प्रेरणा' एक कलश और एक गाथा में देते हैं -

(हरिगीत)

उस ज्ञान के आस्वाद में ही, नित रमे जो आतमा ।
अर द्वन्द्वमय आस्वाद में, असमर्थ है जो आतमा ॥
आत्मानुभव के स्वाद में ही, मगन है जो आतमा ।
सामान्यमय एकत्व को, धारण करे वह आतमा ॥ १४० ॥

(गाथा)

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥ २०३ ॥

(अनुष्टुभ्)

एकमेव हि तत्स्वाद्यं, विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते, पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥ १३९ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥ १४० ॥

(हरिगीत)

मतिश्रुतावधिमनःपर्यय, और केवलज्ञान भी ।

सब एक पद परमार्थ है, पा इसे जन शिवपद लहें ॥ २०४ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानस्वरूप-निजपदानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ १४३ ॥

अब, आगामी कलश में कहते हैं कि 'चैतन्य-रत्नाकर एक होने पर भी अनेक होकर उछलता है' -

(हरिगीत)

सब भाव पी संवेदनाएँ, मत्त होकर स्वयं ही ।

हों उछलती जिस भाव में, अद्भुत निधि वह आत्मा ॥

भगवान वह चैतन्य-रत्नाकर सदा ही एक है ।

फिर भी अनेकाकार होकर, स्वयं में ही उछलता ॥ १४१ ॥

ॐ ह्रीं श्री एकानेकस्वरूप-चैतन्यरत्नाकरप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १४४ ॥

अब, 'मोक्षपद की प्राप्ति ज्ञान से ही सम्भव है, किसी क्रियाकाण्ड से नहीं,' यह बात दो कलश और एक गाथा में कहते हैं -

(हरिगीत)

पंचाग्नि तप या महाव्रत, कुछ भी करो सिद्धि नहीं ।

जाने बिना निज आत्मा, जिनवर कहें सब व्यर्थ हैं ॥

मोक्षमय जो ज्ञानपद वह, ज्ञान से ही प्राप्त हो ।

निज ज्ञानगुण के बिना, उसको कोई पा सकता नहीं ॥ १४२ ॥

(गाथा)

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एकमेव पदं ।

सो ऐसो परमदुो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥ २०४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो

निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव ।

यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्

वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥ १४१ ॥

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैः, मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,

क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो, भारेण भग्नाश्चिरम् ।

साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं, संवेद्यमानं स्वयं,

ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं, क्षमन्ते न हि ॥ १४२ ॥

(हरिगीत)

इस ज्ञानगुण के बिना जन, प्राप्ति न शिवपद की करें।
यदि चाहते हो मुक्त होना, ज्ञान का आश्रय करो ॥ २०५ ॥

(दोहा)

क्रियाकाण्ड से ना मिले, यह आतम अभिराम।
ज्ञानकला से सहज ही, सुलभ आतमाराम ॥
अतः जगत् के प्राणियों! छोड़ जगत् की आश।
ज्ञानकला का ही अरे! करो नित्य अभ्यास ॥ १४३ ॥

ॐ ह्रीं श्री ज्ञानेनैव मोक्षप्राप्तिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ १४५ ॥

अब, 'उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए ज्ञानस्वरूपी आत्मा में ही सन्तुष्ट रहने की प्रेरणा' देते हैं -

(हरिगीत)

इस ज्ञान में ही रत रहो, सन्तुष्ट नित इसमें रहो।
बस! तृप्त भी इसमें रहो तो, परमसुख को प्राप्त हो ॥ २०६ ॥

ॐ ह्रीं श्री परमसुखप्रदायि-आत्मसन्तोषप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १४६ ॥

'जो ज्ञानी, स्वयं को अचिन्त्यशक्ति चिन्मात्र चिन्तामणिरूप देव अनुभव करता है, वह कोई भी परिग्रह नहीं चाहता है;' यह कलश द्वारा कहते हैं -

(गाथा)

णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ २०५ ॥

(द्रुतविलंबित)

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत् ॥ १४३ ॥

(गाथा)

एदमिह रदो णिच्चं संतुद्धो होहि णिच्चमेदमिह।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६ ॥

(दोहा)

अचिन्त्यशक्ति धारक अरे! चिन्तामणि चैतन्य ।
सिद्धारथ यह आतमा, ही है कोई न अन्य ॥
सभी प्रयोजन सिद्ध हैं, फिर क्यों पर की आश ।
ज्ञानी जाने यह रहस करे न पर की आश ॥ १४४ ॥

ॐ ह्रीं अचिन्त्यात्ममहिमाप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥१४७॥

अब, 'ज्ञानी, परिग्रह को क्यों नहीं अपनाता है?' यह तर्कसहित तीन गाथाओं में कहते हैं -

(हरिगीत)

आतमा ही आतमा का परिग्रह - यह जानकर ।
'परद्रव्य मेरा है' - बताओ, कौन बुध ऐसा कहे? ॥ २०७ ॥
यदि परिग्रह मेरा बने तो, मैं अजीव बनूँ अरे!।
पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ, इसलिए पर मेरे नहीं ॥ २०८ ॥
छिद जाय या ले जाय कोड़, अथवा प्रलय को प्राप्त हो ।
जावे चला चाहे जहाँ, पर परिग्रह मेरा नहीं ॥ २०९ ॥

ॐ ह्रीं समस्तपरिग्रहेण निर्ममत्वज्ञानिनः स्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१४८॥

(उपजाति)

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवः, चिन्मात्रचिन्तामणिषेयस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण? ॥ १४४ ॥

(गाथा)

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ॥ २०७ ॥
मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०८ ॥
छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०९ ॥

अब, 'ज्ञानी, किसी परिग्रह को नहीं चाहता है,' यह परिग्रहों के नामोल्लेख पूर्वक विशेषरूप से दो कलश एवं पाँच गाथाओं में कहते हैं -

(सोरठा)

सभी परिग्रह-त्याग, इसप्रकार सामान्य से।

विविध वस्तु परित्याग, अब आगे विस्तार से ॥ १४५ ॥

(हरिगीत)

है अनिच्छुक अपरिग्रही, ज्ञानी न चाहे धर्म को।

है परिग्रह ना धर्म का वह, धर्म का ज्ञायक रहे ॥ २१० ॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही, ज्ञानी न चाहे अधर्म को।

है परिग्रह ना अधर्म का, वह अधर्म का ज्ञायक रहे ॥ २११ ॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही, ज्ञानी न चाहे असन को।

है परिग्रह ना असन का, वह असन का ज्ञायक रहे ॥ २१२ ॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही, ज्ञानी न चाहे पेय को।

है परिग्रह ना पेय का, वह पेय का ज्ञायक रहे ॥ २१३ ॥

इत्यादि विध-विध भाव जो, ज्ञानी न चाहे सभी को।

सर्वत्र ही वह निरालम्बी, नियत ज्ञायकभाव है ॥ २१४ ॥

(वसन्ततिलका)

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।

अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥ १४५ ॥

(गाथा)

अपरिग्रहो अणिच्छे भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं।

अपरिग्रहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१० ॥

अपरिग्रहो अणिच्छे भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं।

अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २११ ॥

अपरिग्रहो अणिच्छे भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं।

अपरिग्रहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१२ ॥

अपरिग्रहो अणिच्छे भणिदो णाणी य णेच्छदे पाणं।

अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१३ ॥

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णेच्छदे णाणी।

जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥ २१४ ॥

(दोहा)

होंय कर्म के उदय से, ज्ञानी के जो भोग ।

परिग्रहत्व पावे नहीं, क्योंकि राग-वियोग ॥ १४६ ॥

ॐ ह्रीं समस्तपरिग्रह-अवाञ्छकज्ञानिनः स्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१४९॥

अब, 'अज्ञानी तीनों काल के भोगों की वांछा क्यों नहीं करता?' इसका समाधान, तीन गाथाओं एवं एक कलश में करते हैं -

(हरिगीत)

उदयगत जो भोग हैं, उनमें वियोगी बुद्धि है ।

अर अनागत भोग की, सद्ज्ञानि के कांक्षा नहीं ॥ २१५ ॥

वेद्य-वेदक भाव दोनों, नष्ट होते प्रतिसमय ।

ज्ञानी रहे ज्ञायक सदा ना, उभय की कांक्षा करे ॥ २१६ ॥

बन्ध-भोग-निमित्त में, अर देह में संसार में ।

सद्ज्ञानियों को राग होता, नहीं अध्यवसान में ॥ २१७ ॥

(हरिगीत)

हम जिन्हें चाहें अरे! उनका, भोग हो सकता नहीं ।

क्योंकि पल-पल प्रलय पावें, वेद्य-वेदक भाव सब ॥

बस! इसलिए सबके प्रति, अति ही विरक्त रहें सदा ।

चाहें न कुछ भी जगत् में, निजतत्त्वविद् विद्वानजन ॥ १४७ ॥

ॐ ह्रीं वेद्य-वेदकभावाऽभावे निर्वाञ्छकज्ञानिनः स्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१५०॥

(स्वागता)

पूर्वबद्धकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।

तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥ १४६ ॥

(गाथा)

उप्पणोदय भोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं ।

कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥ २१५ ॥

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं ।

तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि ॥ २१६ ॥

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।

संसारदेहविसएसु णोव उप्पज्जदे रागो ॥ २१७ ॥

(स्वागता)

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।

तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥ १४७ ॥

अब, आगामी दो कलश और दो गाथाओं में दृष्टान्त सहित यह कहते हैं कि 'राग के अभाव के कारण ज्ञानी, कर्म करते हुए भी बँधते नहीं हैं' -

(हरिगीत)

जबतक कषायित न करें, सर्वांग फिटकरि आदि से।
तबतलक सूती वस्त्र पर, सर्वांग रंग चढ़ता नहीं ॥
बस! उसतरह ही रागरस से, रिक्त सम्यग्ज्ञानिजन।
सब कर्म करते पर परीग्रह-भाव को ना प्राप्त हों ॥ १४८ ॥
रागरस से रहित ज्ञानी, जीव इस भूलोक में।
कर्मस्थ हों पर कर्मरज से, लिप्त होते हैं नहीं ॥ १४९ ॥

(हरिगीत)

पंकगत ज्यों कनक निर्मल, कर्मगत त्यों ज्ञानिजन।
राग-विरहित कर्मरज से, लिप्त होते हैं नहीं ॥ २१८ ॥
पंकगत ज्यों लोह त्यों ही, कर्मगत अज्ञानिजन।
रक्त हों परद्रव्य में अर, कर्मरज से लिप्त हों ॥ २१९ ॥

ॐ ह्रीं रागाऽभावे अबन्धकज्ञानिनः स्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १५१ ॥

अब, 'भोग-भोगते हुए भी ज्ञानी क्यों नहीं बँधते?' यह एक कलश और चार गाथाओं में उदाहरणसहित कहते हैं -

(स्वागता)

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततथैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥ १४८ ॥
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १४९ ॥

(गाथा)

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्धममज्झे जहा कणयं ॥ २१८ ॥
अणणाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरणेण दु कद्धममज्झे जहा लोहं ॥ २१९ ॥

(हरिगीत)

स्वयं ही हों परिणमित, स्वाधीन हैं सब वस्तुयें ।
 अर अन्य के द्वारा कभी, वे नहीं बदली जा सकें ॥
 जिम परजनित अपराध से, बँधते नहीं जन जगत् में ।
 तिम भोग भोगें किन्तु ज्ञानीजन कभी बँधते नहीं ॥ १५० ॥

(हरिगीत)

ज्यों अचित्त और सचित्त, एवं मिश्र वस्तु भोगते ।
 भी शंख के शुक्लत्व को, ना कृष्ण कोई कर सके ॥ २२० ॥
 त्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते- ।
 भी ज्ञानि के ना ज्ञान को अज्ञान कोई कर सके ॥ २२१ ॥
 जब स्वयं शुक्लत्व तज, वह कृष्ण होकर परिणमे ।
 तब स्वयं ही हो कृष्ण, एवं शुक्ल भाव परित्यजे ॥ २२२ ॥
 इस ही तरह जब ज्ञानिजन, निजभाव को परित्याग कर ।
 अज्ञानमय हों परिणमित, तब स्वयं अज्ञानी बनें ॥ २२३ ॥

ॐ ह्रीं कर्मोदयनिमित्तक-भोगसद्भावेऽपि निर्जराभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
 नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१५२॥

(शार्दूलविक्रीडित)

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
 कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते ।
 अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्संततं
 ज्ञानिन् भुंक्ष्य परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥ १५० ॥

(गाथा)

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दब्बे ।
 संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं ॥ २२० ॥
 तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दब्बे ।
 भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥ २२१ ॥
 जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
 गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥ २२२ ॥
 तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण ।
 अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥ २२३ ॥

अब, आचार्य कहते हैं कि 'भोगों से बन्ध नहीं होता, पर भोगने के भाव से तो होता है, अतः इन सबसे विरक्त होकर आत्मा में रत रहो' -

(हरिगीत)

कर्म करना ज्ञानियों को, उचित हो सकता नहीं ।
फिर भी भोगासक्त जो, दुर्भुक्त ही वे जानिये ॥
हो भोगने से बन्ध ना, पर भोगने के भाव से ।

तो बन्ध है बस! इसलिए, निज आत्मा में रत रहो ॥ १५१ ॥

ॐ ह्रीं भोगभावमुक्त-आत्मानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं ... ॥१५३॥

'फल के अभिलाषी अज्ञानी बँधते हैं और फलाभिलाषा से रहित ज्ञानी बँधते नहीं हैं,' यह दो कलश और चार गाथाओं में दृष्टान्त सहित बताते हैं -

(हरिगीत)

तू भोग मुझको ना कहे, यह कर्म निज करतार को ।
फलाभिलाषी जीव ही, नित कर्मफल को भोगता ॥
फलाभिलाषाविरत मुनिजन, ज्ञानमय वर्तन करें ।
सब कर्म करते हुए भी, वे कर्मबन्धन ना करें ॥ १५२ ॥

(हरिगीत)

आजीविका के हेतु नर, ज्यों नृपति की सेवा करे ।
तो नरपती भी सब तरह, उसके लिए सुविधा करे ॥ २२४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्थाप्युच्यते
भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः ।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥ १५१ ॥

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥ १५२ ॥

(गाथा)

पुरिसो जह को वि इहं वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं ।
तो सो वि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥ २२४ ॥

इस ही तरह जब जीव, सुख के हेतु सेवे कर्मरज ।
तो कर्मरज भी सब तरह, उसके लिए सुविधा करे ॥ २२५ ॥
आजीविका के हेतु जब नर, नृपति-सेवा ना करे ।
तब नृपति भी उसके लिए, उस तरह सुविधा ना करे ॥ २२६ ॥
त्यों कर्मरज सेवे नहीं, जब जीव सुख के हेतु से ।
तो कर्मरज उसके लिए, उस तरह सुविधा ना करे ॥ २२७ ॥

(हरिगीत)

जिसे फल की चाह ना, वह करे - यह जँचता नहीं ।
यदि विवशता वश आ पड़े तो, बात ही कुछ और है ॥
अकम्प ज्ञान-स्वभाव में, थिर रहें जो वे ज्ञानिजन ।
सब कर्म करते या नहीं - यह कौन जाने विज्ञजन ॥ १५३ ॥

ॐ ह्रीं फलाभिलाषाऽभावे ज्ञानिनः अबन्धकस्वरूपप्ररूपक-समयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १५४ ॥

अब, आचार्य कुन्दकुन्ददेव, 'सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वर्णन'
प्रारम्भ करते हैं । वहाँ सर्वप्रथम टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव, 'निःशंकित
अंग' सम्बन्धी कलश लिखते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं -

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥ २२५ ॥
जह पुण सो च्विय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥ २२६ ॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं ।
तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥ २२७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥ १५३ ॥

(हरिगीत)

वज्र का हो पात जो, त्रैलोक्य को विह्वल करे।
फिर भी अरे! अति साहसी, सदृष्टिजन निश्चल रहें॥
निश्चल रहें निर्भय रहें, निशंक निज में ही रहें-।
निःसर्ग ही निज बोध-वपु, निज बोध से अच्युत रहें॥ १५४ ॥

ॐ ह्रीं निःशंकसम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥१५५॥

अब, 'सम्यग्दृष्टि निःशंक होने से वह सप्त भयों से रहित होता है,' यह एक गाथा और छह कलशों द्वारा कहते हैं -

(हरिगीत)

निःशंक हों सदृष्टि बस! इसलिए ही निर्भय रहें।
वे सप्त भय से मुक्त हैं, इसलिए ही निःशंक हैं॥ २२८ ॥

ॐ ह्रीं निःशंकत्वात् सप्तभयरहित-सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१५६॥

अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव, क्रमशः 'सप्त भयों से रहित सम्यग्दृष्टि का निरूपण' आगामी छह कलशों में करते हैं; सर्व प्रथम 'सम्यग्दृष्टि के इहलोक-परलोकभय का अभाव' प्रदर्शित करते हुए वे लिखते हैं -

(हरिगीत)

इहलोक अर परलोक से, मेरा न कुछ सम्बन्ध है।
अर भिन्न पर से एक यह, चिल्लोक ही मम लोक है॥

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं, कर्तुं क्षमन्ते परं;
यद्ब्रजेऽपि पतत्यमी भयचलत्, त्रैलोक्यमुक्ताध्वनिः।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया, शंकां विहाय स्वयं,
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं, बोधाच्च्यवन्ते न हि॥ १५४ ॥

(गाथा)

सम्माद्विद्वी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥ २२८ ॥

जब जानते यह ज्ञानिजन, तब होंय क्यों भयभीत वे ?।

वे तो सतत निःशंक हो, निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५५ ॥

ॐ ह्रीं इहलोक-परलोकभयरहित सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१५७॥

अब, 'सम्यग्दृष्टि के वेदनाभय का अभाव' बताते हुए लिखते हैं -

(हरिगीत)

चूँकि एक-अभेद में ही, वेद्य-वेदक भाव हो ।

अतएव ज्ञानी नित्य ही निजज्ञान का अनुभव करें ॥

अन्य वेदना कोड़ है नहीं, तब होंय क्यों भयभीत वे ?।

वे तो सतत निःशंक हो, निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५६ ॥

ॐ ह्रीं वेदनाभयरहित सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥१५८॥

अब, 'सम्यग्दृष्टि के अरक्षाभय का अभाव' प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं -

(हरिगीत)

निज आतमा सत् और, सत् का नाश हो सकता नहीं ।

है सदा रक्षित सत्, अरक्षाभाव हो सकता नहीं ? ॥

जब जानते यह ज्ञानिजन, तब होंय क्यों भयभीत वे ?।

वे तो सतत निःशंक हो, निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५७ ॥

ॐ ह्रीं अरक्षाभयरहित सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥१५९॥

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः शाश्वत एक एष सकल-व्यक्तो विविक्तात्मनः,

चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं, यल्लोकयत्येककः ।

लोकोऽयं न तवापरस्तदपरः, तस्यास्ति तद्धीः कुतो?,

निशंकः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा विन्दति ॥ १५५ ॥

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते

निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।

नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्धीः कुतो ज्ञानिनो

निशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ १५६ ॥

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-

ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।

अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो

निशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ १५७ ॥

अब, सम्यग्दृष्टि के अगुप्तिभय का अभाव प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं-

(हरिगीत)

कोई किसी का कुछ करे, यह बात सम्भव है नहीं।
सब हैं सुरक्षित स्वयं में, अगुप्ति का भय है नहीं ॥
जब जानते यह ज्ञानिजन, तब होंय क्यों भयभीत वे?
वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५८ ॥

ॐ ह्रीं अगुप्तिभयरहितसम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १६० ॥

अब 'सम्यग्दृष्टि के मरणभय का अभाव' प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं -

(हरिगीत)

मृत्यु कहे सारा जगत बस! प्राण के उच्छेद को।
ज्ञान ही है प्राण मम, उसका नहीं विच्छेद हो ॥
तब मरणभय हो किसतरह, हों ज्ञानिजन भयभीत क्यों?
वे तो सतत निःशंक हो, निज ज्ञान का अनुभव करें ॥ १५९ ॥

ॐ ह्रीं मरणभयरहित सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १६१ ॥

अब, 'सम्यग्दृष्टि के आकस्मिकभय का अभाव' प्रदर्शित करते हुए
लिखते हैं -

(हरिगीत)

इसमें अचानक कुछ नहीं, यह ज्ञान निश्चल एक है।
यह है सदा ही एक-सा, एवं अनादि अनंत है ॥

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५८ ॥
प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५९ ॥

जब जानते यह ज्ञानिजन, तब होंय क्यों भयभीत वे ?।

वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥ १६० ॥

ॐ ह्रीं आकस्मिकभयरहित स्वरूपसम्यग्दृष्टिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १६२ ॥

अब, आगामी कलश में कहते हैं कि 'सम्यग्दृष्टि को सतत निर्जरा' होती रहती है -

(दोहा)

नित निःशंक सदृष्टि को, कर्मबन्ध न होय ।

पूर्वोदय को भोगते, सतत निर्जरा होय ॥ १६१ ॥

ॐ ह्रीं सम्यग्दृष्टिने सतत निर्जराप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ १६३ ॥

अब, आचार्य कुन्दकुन्ददेव, आगामी आठ गाथाओं में 'सम्यग्दृष्टि के निःशंकितादि आठ अंगों का स्वरूप' क्रमशः बताते हैं; सर्वप्रथम 'निःशंक सम्यग्दृष्टि का स्वरूप' निम्न गाथा में लिखते हैं -

(हरिगीत)

जो कर्म-बन्धन मोह-कर्ता, चार पाये छेदते ।

वे आतमा निःशंक सम्यग्दृष्टि हैं - यह जानना ॥ २२९ ॥

ॐ ह्रीं निःशंक-सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ १६४ ॥

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १६० ॥

(मन्दाक्रान्ता)

टंकोत्कीर्ण-स्वरस-निचितज्ञान-सर्वस्वभाजः

सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।

तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंधः

पूर्वापात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥ १६१ ॥

(गाथा)

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।

सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदत्त्वो ॥ २२९ ॥

अब, 'निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि का स्वरूप' निम्न गाथा में लिखते हैं -
(हरिगीत)

सब धर्म एवं कर्मफल की, ना करें आकांक्षा ।

वे आतमा निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि हैं - यह जानना ॥ २३० ॥

ॐ ह्रीं निष्कांक्ष-सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ १६५ ॥

अब, 'निर्विचिकित्सक सम्यग्दृष्टि का स्वरूप' गाथा में लिखते हैं -
(हरिगीत)

जो नहीं करते जुगुप्सा, सब वस्तुधर्मों के प्रति ।

वे आतमा ही निर्जुगुप्सक, समकिती हैं जानना ॥ २३१ ॥

ॐ ह्रीं निर्विचिकित्सक-सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १६६ ॥

अब, 'अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टि का स्वरूप' निम्न गाथा में लिखते हैं -
(हरिगीत)

सर्व भावों के प्रति, सदृष्टि हैं असंमूढ हैं ।

अमूढदृष्टि समकिती वे, आतमा ही जानना ॥ २३२ ॥

ॐ ह्रीं अमूढदृष्टि-सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य
निर्वपामीति स्वाहा ॥ १६७ ॥

अब, 'उपगूहक सम्यग्दृष्टि का स्वरूप' निम्न गाथा में लिखते हैं -
(हरिगीत)

जो सिद्धभक्ति युक्त हैं, सब धर्म का गोपन करें ।

वे आतमा गोपनकरी, सदृष्टि हैं यह जानना ॥ २३३ ॥

ॐ ह्रीं उपगूहक-सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ १६८ ॥

(गाथा)

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेषु ।
सो णिवकंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३० ॥
जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३१ ॥
जो हवदि असम्मूढो चेदा सद्धिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३२ ॥
जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३३ ॥

अब, 'स्थितिकारी सम्यग्दृष्टि का स्वरूप' निम्न गाथा में लिखते हैं -
(हरिगीत)

उन्मार्गगत निजभाव को, लावें स्वयं सन्मार्ग में।

वे आतमा थितिकरण, सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३४ ॥

ॐ ह्रीं स्थितिकारी-सम्यग्दृष्टिस्वरूप-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ १६९ ॥

अब, 'वत्सल सम्यग्दृष्टि का स्वरूप' निम्न गाथा में लिखते हैं -
(हरिगीत)

मुक्तिमगगत साधुत्रय प्रति, रखें वत्सल भाव जो।

वे आतमा वत्सली, सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३५ ॥

ॐ ह्रीं सन्मार्गवत्सल-सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ १७० ॥

अब, 'प्रभावक सम्यग्दृष्टि का स्वरूप' निम्न गाथा में लिखते हैं -
(हरिगीत)

सद्ज्ञानरथ आरूढ़ हो, जो भ्रमे मनरथ मार्ग में।

वे प्रभावक जिनमार्ग के, सद्दृष्टि उनको जानना ॥ २३६ ॥

ॐ ह्रीं प्रभावक-सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य.... ॥ १७१ ॥

अब, अन्त में उपसंहार करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव एक कलश लिखते हैं -
(दोहा)

बन्ध न हो नव कर्म का, पूर्व कर्म का नाश।

नृत्य करें अष्टांग में, सम्यग्ज्ञान प्रकाश ॥ १६२ ॥

ॐ ह्रीं निर्जराकारक-श्रीसम्यग्ज्ञानाय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १७२ ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

उम्मग्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।

सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३४ ॥

जो कुणादि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गाम्हि।

सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३५ ॥

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।

सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३६ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

रुंधन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः

प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं ज्ञानं

भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ॥ १६२ ॥

जयमाला

(दोहा)

है निर्जरा अधिकार की, महिमा अगम अनूप ।
करने से आराधना, पावे अद्भुत रूप ॥ १ ॥

(मानव^१)

ज्ञानी विषयों को भोगें, पर बन्ध नहीं होता है ।
निर्जरा सहज ही होती, आत्म निर्मल होता है ॥
सामर्थ्य ज्ञान की जानों, एवं विराग बल देखो ।
इस अद्भुत अचरजकारी, घटना को जानो देखो ॥ २ ॥

खाते हुये जहर को, विष-वैद्य मरण न हो ज्यों ।
भोगों को भोगे फिर भी, ज्ञानी को बन्ध न हो त्यों ॥
ज्यों मदिरा पीवें मद्यप^२, मदिरा का असर न होवे ।
त्यों ही विरागयुत ज्ञानी पर जग का असर न होवे ॥ ३ ॥

है बात वस्तुतः ऐसी, ज्ञानी विषयों का सेवन ।
अत्यन्त अरुचि से करते, अन्दर से करें न सेवन ॥
सामर्थ्य ज्ञान की ऐसी, एवं विराग-बल ऐसा ।
उनको अन्तर से उनसे, अति ही विरक्त रखता है ॥ ४ ॥

ज्ञानी के होती ऐसी, रे! ज्ञान-वैराग्य-शक्ति ।
उस शक्ति की महिमा है, छोड़ो न उनमें भक्ति ॥
पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, स्वच्छन्द नहीं हैं होते ।
उनका चरित्र अति निर्मल, वे अति सज्जनतम होते ॥ ५ ॥

१. तर्ज - ऐ मेरे वतन के लोगों! जरा आँख में भर लो पानी.....

२. शराब पीनेवाला

ज्यों कीचड़ में सोना हो, त्यों कर्मों में ज्ञानीजन ।
 सोना निर्मल ही रहता, ज्ञानीजन निर्मल रहते ॥
 ज्यों कीचड़ में लोहा हो, त्यों कीचड़ में अज्ञानी ।
 लोहे में जंग लग जाती, त्यों अज्ञ कर्म से लिपटे ॥ ६ ॥
 जो फल ना चाहे भाई, वह कुछ करता ही नहीं है ।
 यदि करना पड़े विवश हो, तो अन्य बात कुछ होगी ॥
 बाहर से करते दिखते, अन्दर विरक्त रहते हैं ।
 ज्ञानी ज्ञानी की जानें, हम नहीं जानते कुछ भी ॥ ७ ॥
 इन प्रश्नों के उत्तर, यदि आप जानना चाहें ।
 इनकी गहराई भाई, यदि आप नापना चाहें ॥
 निर्जराधिकार अनुशीलन, इकदम अच्छे से पढ़िये ।
 इसमें आगत चर्चा के, अन्तर में जरा उतरिये ॥ ८ ॥
 छोड़ उपेक्षा भाई! अन्तर्मन से आदरिये ।
 गहराई में जा-जाकर, अन्तर में जरा उतरिये ॥
 कीजिए मनन अर चिन्तन, एवं अनुशीलन करिये ।
 रे! अधिक कहें क्या भाई, तद्रूप परिणमन करिये ॥ ९ ॥

(दोहा)

करो करम की निर्जरा, कर परिणमन विशुद्ध ।
 हो जावेगा आतमा, अहो एकदम शुद्ध ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं श्री निर्जरातत्त्वप्रतिपादक-निर्जराधिकाराय जयमाला पूर्णार्घ्यं नि. स्वाहा ।

(दोहा)

अब समाप्त ही हो रहा, यह अधिकार महान ।
 भव्य निर्जरा प्राप्त कर, शीघ्र बनो भगवान ॥ ११ ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

बन्ध-मोक्ष अधिकार पूजन

स्थापना

(दोहा)

रागभाव तो बन्ध है, वीतरागता मोक्ष ।
 एवं आत्मस्वभाव में, नहीं बन्ध ना मोक्ष ॥ १ ॥
 बन्धकथा से कभी न, होय बन्ध का नाश ।
 आत्मसाधना से सदा, हो शिवसुख अविनाश ॥ २ ॥
 अष्ट द्रव्य से कर रहा, पूजन अगम अनूप ।
 बन्ध-मोक्ष अधिकार की, समयसार शिवभूप ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकारौ! अत्र अवतरत-अवतरत
 संवौषट् ।

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकारौ! अत्र तिष्ठत-तिष्ठत
 ठः ठः ।

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकारौ! अत्र मम सन्निहितो
 भवत-भवत वषट् । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(मानव^१)

जल

आतम-स्वभाव के जल से, रागादिक मल धो-धोकर ।
 अन्तर से बाहर निकलें, निर्मद निर्मल हो-होकर ॥
 रे! राग भाव में फँस कर, अब तक अनन्त दुख पाये ।
 रे! मोक्षमार्ग में चल कर, अब तो अनन्त सुख पायें ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकाराभ्यां जन्मजरामृत्यु
 विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

१. तर्ज - तू जाग रे चेतन प्राणी, कर आतम की अगवानी-

चन्दन

सन्तप्त जगत में आतम, भव-ताप में व्याकुल होवे ।
 शीतल स्वभाव में रमकर, चन्दन-सा शीतल होवे ॥
 रे! राग भाव में फँस कर, अब तक अनन्त दुख पाये ।
 रे! मोक्षमार्ग में चल कर, अब तो अनन्त सुख पायें ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकाराभ्यां संसारताप
 विनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

अक्षत

क्षत में क्षत-विक्षत होकर, अक्षत न अभी तक पाया ।
 अक्षत अविनाशी आतम, की शरणा में अब आया ॥
 रे! राग भाव में फँस कर, अब तक अनन्त दुख पाये ।
 रे! मोक्षमार्ग में चल कर, अब तो अनन्त सुख पायें ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकाराभ्यां अक्षयपदप्राप्तये
 अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ।

पुष्प

भक्ति के पुष्प मनोहर, चरणों में लेकर आया ।
 दुर्भावों से बच-बचकर, तेरी शरणा में आया ॥
 रे! राग भाव में फँस कर, अब तक अनन्त दुख पाये ।
 रे! मोक्षमार्ग में चल कर, अब तो अनन्त सुख पायें ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकाराभ्यां कामबाण
 विध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

नैवेद्य

कितने ही व्यंजन खाओ, पर जग में भूख मिटे ना ।
 जो शरण आपकी आवै, उसको तो भूख लगे ना ।
 रे! राग भाव में फँस कर, अब तक अनन्त दुख पाये ।
 रे! मोक्षमार्ग में चल कर, अब तो अनन्त सुख पायें ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकाराभ्यां क्षुधारोगविनाशनाय
 नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

दीप

जग का यह दीपक जग को, ना पूर्ण प्रकाशित करता ।
पर ज्ञानदीप इस जग को, परिपूर्ण प्रकाशित करता ॥
रे! राग भाव में फँस कर, अब तक अनन्त दुख पाये ।
रे! मोक्षमार्ग में चल कर, अब तो अनन्त सुख पायें ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकाराभ्यां मोहान्धकार
विनाशयनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।

धूप

यह धूप दशांगी जग में, कर्मों को नहीं जलाती ।
पर गन्ध आत्मा की तो, रे उन्हें भस्म कर जाती ॥
रे! राग भाव में फँस कर, अब तक अनन्त दुख पाये ।
रे! मोक्षमार्ग में चल कर, अब तो अनन्त सुख पायें ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकाराभ्यां अष्टकर्मदहनाय
धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

फल

मुक्ति का अनुपम फल तो, ये कभी नहीं दे सकते ।
मुक्तिफल तो सबको ही, अपने आत्म से मिलते ॥
रे! राग भाव में फँस कर, अब तक अनन्त दुख पाये ।
रे! मोक्षमार्ग में चल कर, अब तो अनन्त सुख पायें ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकाराभ्यां मोक्षफलप्राप्तये
फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

अर्घ्य

यह अर्घ्य आत्मा को तो, सुख-शान्ति नहीं दे सकता ।
सुख-शान्ति मिले अपने में, कोइ और नहीं दे सकता ॥
रे! राग भाव में फँस कर, अब तक अनन्त दुख पाये ।
रे! मोक्षमार्ग में चल कर, अब तो अनन्त सुख पायें ॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्ध-मोक्षाधिकाराभ्यां अनर्घ्यपदप्राप्तये
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

अर्घ्यावली

॥ बन्ध अधिकार ॥

(दोहा)

करम-योग-हिंसा-विषय, न कर्मबन्ध के हेतु ।
मोह, राग अर द्वेष हैं, कर्मबन्ध के हेतु ॥

(पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

इस अधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव, 'रंगमंच पर बन्ध का प्रवेश कराते हैं और उसी बन्ध का नाश करनेवाले सम्यग्ज्ञान की महिमा' करते हैं - (हरिगीत)

मदमत्त हो मदमोह में, इस बन्ध ने नर्तन किया ।
रसरग के उद्गार से सब, जगत् को पागल किया ॥
उदार अर आनन्दभोजी, धीर निरुपधि ज्ञान ने ।
अति ही अनाकुलभाव से, उस बन्ध का मर्दन किया ॥ १६३ ॥

ॐ ह्रीं बन्धनाशक-श्रीसम्यग्ज्ञानाय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १७३ ॥

यहाँ सर्वप्रथम, 'अज्ञानी जीव, रागादि से लिप्त होने के कारण ही बन्ध को प्राप्त होता है,' यह बात पाँच गाथाओं एवं एक कलश के द्वारा सोदाहरण समझाते हैं - (हरिगीत)

ज्यों तेल-मर्दन कर पुरुष, रेणु-बहुल स्थान में ।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २३७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

रागोद्गारमहारसेन सकलं, कृत्वा प्रमत्तं जगत् ;
क्रीडंतं रसभावनिर्भरमहा-नाट्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्-;
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि, ज्ञानं समुन्मज्जति ॥ १६३ ॥

(गाथा)

जह पाम को वि पुरिसो षोहब्भतो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहि वायामं ॥ २३७ ॥

तरु ताड़ कदली बाँस आदिक, वनस्पति छेदन करे ।
 सचित्त और अचित्त द्रव्यों, का बहुत भेदन करे ॥ २३८ ॥
 बहुविध बहुत उपकरण से, उपघात करते पुरुष को ।
 परमार्थ से चिन्तन करो, रजबन्ध किस कारण हुआ ॥ २३९ ॥
 चिकनाई ही रजबन्ध का, कारण कहा जिनराज ने ।
 पर काय-चेष्टादिक नहीं, यह जान लो परमार्थ से ॥ २४० ॥
 बहुभाँति चेष्टारत तथा, रागादि को करते हुए ।
 सब कर्मरज से लिस होते, हैं जगत् में अज्ञान ॥ २४१ ॥

(हरिगीत)

कर्म की ये वर्गणाएँ, बन्ध का कारण नहीं ।
 अत्यन्त चंचल योग भी है, बन्ध के कारण नहीं ॥
 करण कारण हैं नहीं, चिद्-अचिद् हिंसा भी नहीं ।
 बस! बन्ध के कारण कहे, अज्ञानमय रागादि ही ॥ १६४ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञानमय-रागादिभ्यः बन्धप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ॥ १७४ ॥

(गाथा)

छिंदति भिंदति य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
 सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥ २३८ ॥
 उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
 णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥ २३९ ॥
 जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
 णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४० ॥
 एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
 रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण ॥ २४१ ॥

(पृथ्वी)

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
 न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।
 यदैक्यमुपयोगमभूः समुपयाति रागादिभिः
 स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणाम् ॥ १६४ ॥

अब, आगामी पाँच गाथाओं एवं एक कलश में सोदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि 'मिथ्यात्व सहित रागादि भावों के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टियों को बन्ध नहीं होता' -

(हरिगीत)

ज्यों तेल मर्दन रहित जन, रेणू-बहुल स्थान में ।
 व्यायाम करता शस्त्र से, बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २४२ ॥
 तरु ताल कदली बाँस आदिक, वनस्पति छेदन करे ।
 सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥ २४३ ॥
 बहुविध बहुत उपकरण से, उपघात करते पुरुष को ।
 परमार्थ से चिन्तन करो, रजबन्ध क्यों कर ना हुआ? ॥ २४४ ॥
 चिकनाई ही रजबन्ध का, कारण कहा जिनराज ने ।
 पर काय-चेष्टादिक नहीं, यह जान लो परमार्थ से ॥ २४५ ॥
 बहुभाँति चेष्टारत तथा, रागादि ना करते हुए ।
 बस! कर्मरज से लिप्त होते नहीं, जग में विज्ञजन ॥ २४६ ॥

(हरिगीत)

भले ही सब कर्मपुद्गल, से भरा यह लोक हो ।
 भले ही मन-वचन-तन, परिस्पन्दमय यह योग हो ॥

(गाथा)

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते ।
 रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥ २४२ ॥
 छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
 सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥ २४३ ॥
 उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
 णिच्छयदो चित्तेज्ज हु किं पच्चयगो ण रयबंधो ॥ २४४ ॥
 जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
 णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४५ ॥
 एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
 अकरंतो उवओगे रागादी ण लिप्पदि रएण ॥ २४६ ॥

चिद्-अचिद् का घात एवं, करण का उपभोग हो।

फिर भी नहीं रागादि-विरहित, ज्ञानियों को बन्ध हो ॥ १६५ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञानमयरागादिभ्यः विरहित-ज्ञानिनः बन्धाऽभावप्ररूपक-
श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १७५ ॥

अब, आगामी कलश में सावधान करते हुए कहते हैं कि 'यद्यपि कार्मण-
-वर्गणा, मन-वचन-कायरूप योग, चेतन-अचेतन की हिंसा और पंचेन्द्रियों
के भोग; इनमें से किसी से भी बन्ध नहीं होता; तथापि ज्ञानियों को निर्गल
प्रवृत्ति उचित नहीं है' -

(हरिगीत)

तो भी निर्गल प्रवर्तन तो, ज्ञानियों को वर्ज्य है।

क्योंकि निर्गल प्रवर्तन, तो बन्ध का स्थान है ॥

वांछारहित जो प्रवर्तन वह, बन्ध विरहित जानिये।

जानना - करना परस्पर-विरोधी ही मानिये ॥ १६६ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानिनः निर्गलप्रवृत्तिनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति
स्वाहा ॥ १७६ ॥

अब, आगामी कलश में 'कर्तृत्व सम्बन्धी अज्ञानमय अध्यवसान ही
बन्ध का कारण है', यह कहते हैं -

(हरिगीत)

जो ज्ञानीजन हैं जानते वे, कभी भी करते नहीं।

करना तो बस! राग ही, जो करें वे जाने नहीं ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बंधं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥ १६५ ॥

(पृथ्वी)

तथापि न निर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां,

तदायतनमेव सा किल निर्गला व्यापृतिः।

अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां,

द्वयं न हि विरुद्ध्यते किमु करोति जानाति च ॥ १६६ ॥

अज्ञानमय यह राग तो है, भाव अध्यवसान ही ।
बन्ध-कारण कहें ये, अज्ञानियों के भाव ही ॥ १६७ ॥

ॐ ह्रीं कर्तृत्वसम्बन्धी-अज्ञानमय-अध्यवसान एव बन्धकारणप्ररूपक-
श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१७७॥

अब, आगामी छह गाथाओं में तर्कसहित यह कहते हैं कि 'अज्ञानियों के अपने जीवन-मरण और परजीवों के जीवन-मरण सम्बन्धी कर्तृत्व के अध्यवसान अज्ञानमय ही हैं' -

(हरिगीत)

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥ २४७ ॥
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं ॥ २४८ ॥
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं ॥ २४९ ॥
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥ २५० ॥

(वसन्ततिलका)

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु, जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहुः, मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ॥ १६७ ॥

(गाथा)

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७ ॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसि ॥ २४८ ॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ॥ २४९ ॥
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५० ॥

सब आयु से जीवित रहें – यह बात जिनवर ने कही ।
 जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं ॥ २५१ ॥
 सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
 कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं ॥ २५२ ॥

ॐ ह्रीं स्व-परयोः जीवन-मरणसम्बन्धी-कर्तृत्वाऽध्यवसानप्ररूपक-
 श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१७८॥

इसी प्रकार 'अपने व परजीवों के सुख-दुःख सम्बन्धी कर्तृत्व का
 अध्यवसान भी अज्ञानमय ही है,' यह चार गाथाओं में सतर्क कहते हैं –

(हरिगीत)

मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत् में अन्य को ।
 यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ? ॥ २५३ ॥
 हैं सुखी होते दुःखी होते कर्म से सब जीव जब ।
 तू कर्म दे सकता न जब सुख-दुःख दे किस भाँति तब ॥ २५४ ॥
 हैं सुखी होते दुःखी होते कर्म से सब जीव जब ।
 दुष्कर्म दे सकते न जब दुःख-दर्द दें किस भाँति तब ॥ २५५ ॥
 हैं सुखी होते दुःखी होते कर्म से सब जीव जब ।
 सत्कर्म दे सकते न जब सुख-शांति दें किस भाँति तब ॥ २५६ ॥

ॐ ह्रीं स्व-परयोः सुख-दुःखसम्बन्धी-कर्तृत्वाध्यवसानप्ररूपक-
 श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१७९॥

(गाथा)

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्ह ।
 आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसि ॥ २५१ ॥
 आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्ह ।
 आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ॥ २५२ ॥
 जो अप्पणा दु मण्णादि दुक्खिदसुहिदे क्खेमि सत्ते ति ।
 सो मूढो अप्पणाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५३ ॥
 कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
 कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते ॥ २५४ ॥
 कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
 कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥ २५५ ॥
 कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
 कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥ २५६ ॥

अब, आगामी दो कलशों में उक्त सभी कार्यों का मूल कारण अपने अपने कर्म को बताते हैं, अन्य को कारण मानना मिथ्या बताते हैं -

(हरिगीत)

जीवन-मरण अरदुःख-सुख सब, प्राणियों के सदा ही।
अपने कर्म के उदय के, अनुसार ही हों नियम से ॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख।
विविध भूलों से भरी यह, मान्यता अज्ञान है ॥ १६८ ॥

करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख।
मानते हैं जो पुरुष, अज्ञानमय इस बात को ॥
कर्तृत्व रस से लबालब हैं, अहंकारी वे पुरुष।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती, अर आत्मघाती वे पुरुष ॥ १६९ ॥

ॐ ह्रीं कर्मोदयानुसारी-जीवन-मरण-सुख-दुःखानां कर्तृत्वाऽध्यवसायान्
अज्ञानप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १८० ॥

अब, 'यह कर्तृत्व-सम्बन्धी अध्यवसाय, मिथ्या है' - इस बात को दो गाथाओं में कहते हैं -

(हरिगीत)

जो मरे या जो दुःखी हों, वे सब कर्म के उदय से।
'मैं दुःखी करता-मारता' यह बात क्यों मिथ्या न हो? ॥ २५७ ॥

(वसन्ततिलका)

सर्व सदैव नियतं भवति स्वकीय- , कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य, कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥ १६८ ॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य, पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकिर्षवस्ते, मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥ १६९ ॥

(गाथा)

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ २५७ ॥

जो ना मरे या ना दुःखी हो, सब करम के उदय से।

‘ना दुःखी करता-मारता’ यह बात क्यों मिथ्या न हो ॥ २५८ ॥

ॐ ह्रीं अध्यवसायादि-भावान् मिथ्यात्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥१८१॥

अब, एक कलश और तीन गाथाओं के द्वारा यह कहते हैं कि ‘मिथ्या
अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है, कोई बाह्य क्रिया नहीं’ -

(दोहा)

विविध कर्म बन्धन करें, जो मिथ्याध्यवसाय।

मिथ्यामति निशदिन करें, वे मिथ्याध्यवसाय ॥ १७० ॥

(हरिगीत)

मैं सुखी करता दुःखी करता, हूँ जगत् में अन्य को।

यह मान्यता ही मूढमति, शुभ-अशुभ का बन्धन करे ॥ २५९ ॥

‘मैं सुखी करता दुःखी करता’ यही अध्यवसान सब।

पुण्य एवं पाप के, बन्धक कहे हैं सूत्र में ॥ २६० ॥

‘मैं मारता मैं बचाता हूँ’, यही अध्यवसान सब।

पाप एवं पुण्य के, बन्धक कहे हैं सूत्र में ॥ २६१ ॥

ॐ ह्रीं मिथ्याध्यवसायबन्धकारणप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥१८२॥

(गाथा)

जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदएण चैव खलु ।

तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ २५८ ॥

(अनुष्टुभ्)

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।

य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥ १७० ॥

(गाथा)

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते ति ।

एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥ २५९ ॥

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।

तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६० ॥

मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।

तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६१ ॥

आगामी तीन गाथाओं में यह कहते हैं कि 'शुभाशुभक्रिया बन्ध का कारण नहीं, मिथ्याध्यवसाय ही बन्ध का कारण है; यही बन्ध का संक्षेप है' -

(हरिगीत)

मारो न मारो जीव को, हो बन्ध अध्यवसान से ।
 यह बन्ध का संक्षेप है, तुम जान लो परमार्थ से ॥ २६२ ॥
 इस ही तरह चोरी, असत्य, कुशील एवं ग्रन्थ में ।
 जो हुए अध्यवसान हों, वे पाप का बन्धन करें ॥ २६३ ॥
 इस ही तरह अचौर्य, सत्य, सुशील और अग्रन्थ में ।
 जो हुए अध्यवसान हों, वे पुण्य का बन्धन करें ॥ २६४ ॥

ॐ ह्रीं परवस्तुनः बन्धकारणत्व-निषेधप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य
 निर्वपामीति स्वाहा ॥१८३॥

अब, एक गाथा में 'अध्यवसानभाव अतिरिक्त कोई भी बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं है' यह कहते हैं -

(हरिगीत)

ये भाव अध्यवसान होते, वस्तु के अवलम्ब से ।
 पर वस्तु से ना बन्ध हो, हो बन्ध अध्यवसान से ॥ २६५ ॥

ॐ ह्रीं परवस्तुनः अध्यवसाननिमित्तत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य
 निर्वपामीति स्वाहा ॥१८४॥

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
 एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥
 एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
 कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं ॥ २६३ ॥
 तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
 कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥ २६४ ॥
 वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।
 ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥ २६५ ॥

अब दो गाथाओं में अध्यवसानभावों का निरर्थकपना प्रदर्शित करते हैं -
(हरिगीत)

मैं सुखी करता दुःखी करता, बाँधता या छोड़ता ।
यह मान्यता हे मूढमति! मिथ्या निरर्थक जानना ॥ २६६ ॥
जिय बँधे अध्यवसान से, शिवपथ-गमन से छूटते ।
गहराई से सोचो जरा! पर में तुम्हारा क्या चले? ॥ २६७ ॥

ॐ ह्रीं अध्यवसानादिभावान् मिथ्याप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥१८५॥

अब, 'निरर्थक अध्यवसानादि भावों से यह जीव, पर को निजरूप और निज को पररूप करता है अर्थात् ऐसा मानता है,' यह एक कलश और दो गाथाओं में कहते हैं - (दोहा)

निष्फल अध्यवसान में, मोहित हो यह जीव ।
सर्वरूप निज को करे, जाने सब निजरूप ॥ १७१ ॥
(हरिगीत)

यह जीव अध्यवसान से, तिर्यच नारक देव नर ।
अर पुण्य एवं पाप सब, पर्यायमय निज को करे ॥ २६८ ॥
वह जीव और अजीव, एवं धर्म और अधर्ममय ।
अर लोक और अलोक इन सबमय स्वयं निज को करे ॥ २६९ ॥

ॐ ह्रीं अध्यवसानादिभावानां निरर्थकत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥१८६॥

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छ ॥ २६६ ॥
अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं ॥ २६७ ॥
(अनुष्ठुभ्)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः ।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥ १७१ ॥
(गाथा)

सत्त्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए ।
देवमणुए य सत्त्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥ २६८ ॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च ।
सत्त्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥ २६९ ॥

अब, आगामी कलश और एक गाथा में 'अध्यवसानादि भाव रहित मुनिराजों की प्रशंसा करते हुए वे कर्म से लिप्त नहीं होते हैं,' यह कहते हैं -

(रोला)

यद्यपि चेतन पूर्ण विश्व से भिन्न सदा है,
फिर भी निज को करे विश्वमय जिसके कारण ।

मोहमूल वह अधवसाय ही जिसके न हो,
परम प्रतापी दृष्टिवन्त वे ही मुनिवर हैं ॥ १७२ ॥

(हरिगीत)

ये और इनसे अन्य, अध्यवसान जिनके हैं नहीं ।
वे मुनीजन शुभ-अशुभ कर्मों, से न कबहूँ लिप्त हों ॥ २७० ॥

ॐ ह्रीं अध्यवसानादिभावरहितमुनीनां स्वरूपनिरूपक -श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१८७॥

अब अध्यवसान के पर्यायवाची बताकर उसका स्वरूप स्पष्ट करते हैं -

(हरिगीत)

व्यवसाय बुद्धी मती, अध्यवसान अर विज्ञान भी ।
एकार्थवाचक हैं सभी, ये भाव चित् परिणाम भी ॥ २७१ ॥

ॐ ह्रीं अध्यवसानपर्यायवाचिनः स्वरूपप्ररूपक -श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥१८८॥

इस प्रकार 'अध्यवसान त्याज्य है अर्थात् पराश्रित सम्पूर्ण व्यवहार ही त्याज्य है,' यह एक कलश व एक गाथा द्वारा कहते हैं -

(इन्द्रवज्रा)

विश्वाद्धिभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककंदोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १७२ ॥

(गाथा)

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥ २७० ॥
बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं ।
एककट्टमेव सत्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ ॥

(अडिल्ल)

सब ही अध्यवसान त्यागने योग्य हैं,
 यह जो बात विशेष जिनेश्वर ने कही ।
 इस का तो स्पष्ट अर्थ यह जानिये,
 अन्याश्रित व्यवहार त्यागने योग्य है ॥
 परमशुद्धनिश्चयनय का जो ज्ञेय है,
 शुद्ध निजातमराम एक ही ध्येय है ।
 यदि ऐसी है बात तो मुनिजन क्यों नहीं ?
 शुद्धज्ञानघन आतम में निश्चल रहें ॥ १७३ ॥

(हरिगीत)

इसतरह ही परमार्थ से कर, नास्ति इस व्यवहार की ।
 निश्चयनयाश्रित श्रमणजन, प्राप्ति करें निर्वाण की ॥ २७२ ॥

ॐ ह्रीं पराश्रितव्यवहारनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ १८९ ॥

व्यवहारनय का निषेध समझाने के लिए 'अभव्य को भी व्यवहारनय का आश्रय किसप्रकार होता है और वह कैसे कार्यकारी नहीं है?' यह तीन गाथाओं में कहते हैं -

(हरिगीत)

व्रत-समिति-गुप्ती-शील-तप, आदिकसभी जिनवरकथित ।
 करते हुए भी अभव्यजन, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं ॥ २७३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्राऽध्यवसानमेवमखिलं, त्याज्यं यदुक्तं जिनैः;
 स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
 सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी, निष्कम्पमाक्रम्य किं?;
 शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे, बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥ १७३ ॥

(गाथा)

एवं व्यवहारणो पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण ।
 णिच्छयणयासिद्धो पुण मुण्णिणो पावंति णित्वाणं ॥ २७२ ॥
 वदसमिदीगुत्तीओ सीलतव जिणवरेहि पण्णत्तं ।
 कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥ २७३ ॥

मोक्ष के श्रद्धान बिन सब, शास्त्र पढ़कर भी अभवि ।
को पाठ गुण करता नहीं है, ज्ञान के श्रद्धान बिन ॥ २७४ ॥
अभव्यजन श्रद्धा करें, रुचि धरें अर रच-पच रहें ।
जो धर्म भोग निमित्त हैं न कर्मक्षय में निमित्त जो ॥ २७५ ॥

ॐ ह्रीं अभव्याश्रितव्यवहारस्य निर्थकत्वप्रतिपादक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥१९०॥

अब, 'व्यवहार-निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध बताने के लिए
दोनों का स्वरूप' कहते हैं -

(हरिगीत)

जीवादि का श्रद्धान दर्शन, शास्त्र-अध्ययन ज्ञान है ।
चारित्र है षट्काय रक्षा - यह कथन व्यवहार है ॥ २७६ ॥
निज आतमा ही ज्ञान है, दर्शन चरित भी आतमा ।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा ॥ २७७ ॥

ॐ ह्रीं व्यवहार-निश्चययोः निषेध्य-निषेधकस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१९१॥

अब, 'कर्मबन्ध के कारण रागादि भावों का निमित्त कौन है?' - ऐसा प्रश्न
एक कलश के माध्यम से प्रस्तुत करके उसका समाधान दो गाथाओं एवं एक
कलश में करते हैं - (सोरठा)

कहे जिनागम माँहि, शुद्धातम से भिन्न जो ।
रागादिक परिणाम, कर्मबन्ध के हेतु वे ॥

मोक्खं असद्वहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्वहंतस्स णाणं तु ॥ २७४ ॥
सद्वहदि य पत्तेदि य रेचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ २७५ ॥
आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णोयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु व्यवहारो ॥ २७६ ॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥ २७७ ॥

यहाँ प्रश्न अब एक, उन रागादिक भाव का ।
यह आतम या अन्य, कौन हेतु है अब कहें ॥ १७४ ॥

(हरिगीत)

ज्यों लालिमामय स्वयं परिणत, नहीं होता फटिकमणि ।
पर लालिमायुत द्रव्य के, संयोग से हो लाल वह ॥ २७८ ॥
त्यों ज्ञानिजन रागादिमय, परिणत न होते स्वयं ही ।
रागादि के ही उदय से, वे किये जाते रागमय ॥ २७९ ॥

(सोरठा)

अग्निरूप न होय, सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन ।
रागरूप न होय, यह आतम परसंग बिन ॥ १७५ ॥

ॐ ह्रीं रागादिसद्भावे परद्रव्यनिमित्तत्वरूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.. ॥ १९२ ॥

अब, एक कलश व एक गाथा में यह कहते हैं कि 'वस्तु-स्वरूप के
ज्ञाता ज्ञानी, राग के अकर्ता हैं -

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को, जाने विज्ञ सदीव ।
अपनापन ना राग में, अतः अकारक जीव ॥ १७६ ॥

(उपजाति)

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते, शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥ १७४ ॥

(गाथा)

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागामादीहिं ।
रंगिज्जदि अण्णोहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागामादीहिं ।
राइज्जदि अण्णोहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥

(उपजाति)

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांतः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १७६ ॥

(हरिगीत)

ना स्वयं करता मोह एवं, राग-द्वेष-कषाय को ।

इसलिए ज्ञानी जीव कर्ता, नहीं है रागादि का ॥ २८० ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानिनः रागादीनामकारकत्वस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.. ॥१९३॥

अब, यहाँ एक कलश व दो गाथाओं में यह कहते हैं कि 'अज्ञानी, वस्तु-स्वरूप को नहीं जानते हैं, अतः वे राग के कर्ता बनते हैं' -

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को, ना जाने अल्पज्ञ ।

धरे एकता राग में, नहीं अकारक अज्ञ ॥ १७७ ॥

(हरिगीत)

राग-द्वेष-कषाय कर्मों, के उदय में भाव जो ।

उनरूप परिणत जीव फिर, रागादि का बन्धन करे ॥ २८१ ॥

राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो ।

उनरूप परिणत आतमा रागादि का बन्धन करे ॥ २८२ ॥

ॐ ह्रीं श्री अज्ञानिनः रागादिकारकत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥१९४॥

अब, 'भगवान आत्मा, रागादि भावों का अकारक किस प्रकार है?' यह तीन गाथाओं में कहते हैं -

(गाथा)

ण य रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।

सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥ २८० ॥

(अनुष्ठुभ्)

इति वस्तुस्वभावं, स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।

रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १७७ ॥

(गाथा)

रागमिह य दोसमिह य कसायकम्मेषु चैव जे भावा ।

तेहिं दु परिणमंतो रागादि बंधदि पुणो वि ॥ २८१ ॥

रागमिह य दोसमिह य कसायकम्मेषु चैव जे भावा ।

तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ॥ २८२ ॥

(हरिगीत)

है द्विविध अप्रतिक्रमण एवं, द्विविध है अत्याग भी।
 इसलिए जिनदेव ने, अकारक कहा है आतमा ॥ २८३ ॥
 अत्याग अप्रतिक्रमण दोनों, द्विविध हैं द्रव-भाव से।
 इसलिए जिनदेव ने, अकारक कहा है आतमा ॥ २८४ ॥
 द्रव्य-भाव से अत्याग-अप्रतिक्रमण होवें जब तलक।
 तब तलक यह आतमा, कर्ता रहे - यह जानना ॥ २८५ ॥

ॐ ह्रीं श्री आत्मनः रागादिनामकारकत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ॥१९५॥

अब, आगामी दो गाथाओं में 'द्रव्य और भावरूप दोषों की निमित्त-
 नैमित्तिकता' को सोदाहरण समझाते हैं -

(हरिगीत)

अधःकर्मक आदि जो, पुद्गल दरब के दोष हैं।
 परद्रव्य के गुणरूप उनको, ज्ञानिजन कैसे करें? ॥ २८६ ॥
 उद्देशिक अधःकर्म जो, पुद्गल दरबमय अचेतन।
 कहे जाते वे सदा, मेरे किये किस भाँति हों? ॥ २८७ ॥

ॐ ह्रीं श्री द्रव्य-भावदोषयोः निमित्त-नैमित्तिकत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
 नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥१९६॥

अब, 'वस्तु-स्वरूप और बन्ध की प्रक्रिया जाननेवाले ज्ञानी, बन्ध को
 उखाड़ कर, आत्मा को प्राप्त करते हैं', यह कलश द्वारा कहते हैं -

(गाथा)

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णोयं।
 एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ॥ २८३ ॥
 अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चखाणं पि।
 एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ॥ २८४ ॥
 जावं अप्पडिकमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
 कुव्वदि आदा तावं कत्ता सो होदि णादव्वो ॥ २८५ ॥
 आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
 कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा दु जे णिच्चं ॥ २८६ ॥
 आधाकम्मं उद्देशियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
 कह तं मम होदि कयं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥ २८७ ॥

(सवैया इकतीसा)

परद्रव्य हैं निमित्त परभाव नैमित्तिक,
 नैमित्तिक भावों से कषायवान् हो रहा ।
 भावीकर्मबन्धन हो इन कषायभावों से,
 बन्धन में आतमा विलायमान हो रहा ॥
 इसप्रकार जान परभावों की सन्तति को,
 जड़ से उखाड़ स्फुरायमान हो रहा ।
 आनन्दकन्द निज-आतम के वेदन में,
 निज भगवान शोभायमान हो रहा ॥ १७८ ॥

ॐ ह्रीं बन्धप्रहारकसम्यग्ज्ञानिनः प्रशंसक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥१९७॥

अब, आगामी कलश में 'बन्ध को जड़-मूल से उखाड़नेवाली दिव्य ज्ञान-ज्योति की प्रशंसा' वीररस के माध्यम से करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

बन्ध के जो मूल उन रागादिक भावों को,
 जड़ से उखाड़ने उदीयमान हो रही ।
 जिसके उदय से चिन्मय-लोक की,
 यह कर्म-कालिमा विलीयमान हो रही ॥
 जिसके उदय को कोई नहीं रोक सके,
 अद्भुत शौर्य से विकासमान हो रही ।
 कमर कसे हुए धीर-वीर-गम्भीर,
 ऐसी दिव्यज्योति प्रकाशमान हो रही ॥ १७९ ॥

ॐ ह्रीं बन्धनाशक-श्रीसम्यग्ज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्यं..... ॥१९८॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
 तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
 आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
 येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥ १७८ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनामुदयमदयं, दारयत्कारणानां,
 कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
 ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्,
 तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः, कोऽपि नास्यावृणोति ॥ १७९ ॥

॥ मोक्ष अधिकार ॥

(दोहा)

बन्धकथा से कभी ना, होय बन्ध का नाश ।
आत्म-साधना से सदा, हो शिव-सुख अविनाश ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

अब, मोक्ष अधिकार के प्रारम्भ में आचार्य अमृतचन्द्रदेव, 'मोक्ष को रंगभूमि में प्रवेश कराते हुए प्रज्ञाछैनी से आतमा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करनेवाली ज्ञान-ज्योति का स्मरण' करते हैं -

(हरिगीत)

निज आतमा अर बन्ध को, कर पृथक् प्रज्ञाछैनी से ।
सद्ज्ञानमय निज आत्म को, कर सरस परमानन्द से ॥
उत्कृष्ट है कृतकृत्य है, परिपूर्णता को प्राप्त है ।
प्रगटित हुई वह ज्ञानज्योति, जो स्वयं में व्याप्त है ॥१८० ॥

ॐ ह्रीं आत्म-बन्धविभेदक-श्रीसम्यग्ज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्यं.... ॥१९९॥

सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्ददेव, 'बन्ध-स्वरूप के ज्ञानमात्र से जीव मुक्त नहीं हो सकता,' इस बात को तीन गाथाओं में कहते हैं -

(हरिगीत)

कोई पुरुष चिरकाल से, आबद्ध होकर बन्ध के ।
तीव्र-मन्दस्वभाव एवं, काल को ही जानता ॥ २८८ ॥
किन्तु यदि वह बन्ध का, छेदन न कर छूटे नहीं ।
तो वह पुरुष चिरकाल तक, निज मुक्ति को पाता नहीं ॥ २८९ ॥

(शिखरिणी)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद् बन्धपुरुषौ, नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं, परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥ १८० ॥

(गाथा)

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥ २८८ ॥
जइ ण वि कुणदि च्छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ बहुणेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥ २८९ ॥

इस ही तरह प्रकृति प्रदेश, स्थिति अर अनुभाग को।

जानकर भी नहीं छूटे, शुद्ध हो तब छूटता ॥ २९० ॥

ॐ ह्रीं बन्धस्वरूपज्ञानमात्रेण मोक्षकारणत्वनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २०० ॥

अब, आगामी तीन गाथाओं में यह कहते हैं कि 'बन्ध के चिन्तन से आत्मा मुक्त नहीं होता, बल्कि बन्ध और आत्मा में द्विधाकरण अर्थात् भेदज्ञान से मुक्त होता है' - (हरिगीत)

बन्ध के चिन्तन से ज्यों, बँधे जन ना मुक्त हों।

त्यों चिन्तन से बन्ध के, सब बँधे जीव न मुक्त हों ॥ २९१ ॥

छेदकर सब बन्धनों को, बद्धजन ज्यों मुक्त हों।

त्यों छेदकर सब बन्धनों को, बद्ध जिय सब मुक्त हों ॥ २९२ ॥

जो जानकर निजभाव निज में, और बन्ध-स्वभाव को।

विरक्त हों जो बन्ध से, वे जीव कर्म-विमुक्त हों ॥ २९३ ॥

ॐ ह्रीं आत्म-बन्धयोः द्विधाकरणमेव मोक्षकारणप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २०१ ॥

अब, 'आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण किस साधन से होता है?' - यह बताते हैं - (हरिगीत)

जीव एवं बन्ध निज-निज, लक्षणों से भिन्न हों।

दोनों पृथक् हो जायें, प्रज्ञाछैनी से जब छिन्न हों ॥ २९४ ॥

ॐ ह्रीं प्रज्ञैव बन्धात्म-द्विधाकरणसाधनप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ २०२ ॥

इय कम्मबंधणाणं पदेसठिइपयडिमेवमणुभागं।

जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो ॥ २९० ॥

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।

तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ॥ २९१ ॥

जह बंधे छेत्तूण य बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।

तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ २९२ ॥

बंधाणं च सहावं वियाणिटुं अप्पणो सहावं च।

बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि ॥ २९३ ॥

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।

पण्णाछेदणण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ २९४ ॥

अब, एक कलश द्वारा 'आत्मा और बन्ध में भेदविज्ञान करनेवाले ज्ञानीजन, किस प्रकार भेदज्ञान का पुरुषार्थ करते हैं?' यह बताते हैं -

(हरिगीत)

सूक्ष्म अन्तःसन्धि में, अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी को ।
अतिनिपुणता से डालकर, अतिनिपुणजन ने बन्ध को ।।
अति भिन्न करके आत्मा से, आत्मा में जम गये ।
वे ही विवेकी धन्य हैं, जो भव-जलधि से तिर गये ॥ १८१ ॥

ॐ ह्रीं आत्म-बन्धद्विधाकारक - सम्यग्ज्ञानिनः महिमाप्रतिपादक -
श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २०३ ॥

आगामी दो गाथाओं में यह बताते हैं कि 'आत्मा और बन्ध में द्विधाकरण करने के पश्चात् उन बन्ध और आत्मा का क्या करना चाहिए' -

(हरिगीत)

जीव एवं बन्ध निज-निज, लक्षणों से भिन्न हों ।
बन्ध को है छेदना अर, ग्रहण करना आत्मा ॥ २९५ ॥
जिस भाँति प्रज्ञाछैनी से, पर से विभक्त किया इसे ।
उस भाँति प्रज्ञाछैनी से ही, अरे! ग्रहण करो इसे ॥ २९६ ॥

ॐ ह्रीं प्रज्ञयैव बन्धत्यागाऽऽत्मग्रहणप्ररूपक - श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ २०४ ॥

(स्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः,
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलसद्भाम्नि चैतन्यपूरे,
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ १८१ ॥

(गाथा)

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधो छेददव्वो सुद्धा अप्पा य घेत्तव्वो ॥ २९५ ॥
कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ॥ २९६ ॥

अब, 'सामान्य चेतनास्वरूप एवं उनके भेदरूप दर्शन-ज्ञानचेतनास्वरूप आत्मा के ग्रहण करने का उपदेश', तीन गाथाओं एवं एक कलश में देते हैं-

(हरिगीत)

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि, मैं हूँ वही जो चेतता ।
 अवशेष जो हैं भाव वे, मेरे नहीं यह जानना ॥ २९७ ॥
 इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता ।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९८ ॥
 इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता ।
 अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९९ ॥

(हरिगीत)

स्वलक्षणों के प्रबल बल से, भेदकर परभाव को ।
 चिद्लक्षणों से ग्रहण कर, चैतन्यमय निजभाव को ॥
 यदि भेद को भी प्राप्त हो, गुण धर्म कारक आदि से ।
 तो भले हो पर मैं तो केवल, शुद्ध चिन्मय मात्र हूँ ॥ १८२ ॥

ॐ ह्रीं प्रज्ञयैव चेतक-दृष्टा-ज्ञातास्वरूपाऽऽत्मग्राहक-श्रीसमयसाराय नमः
 अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २०५ ॥

पण्णाए धित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
 अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥ २९७ ॥
 पण्णाए धित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।
 अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥ २९८ ॥
 पण्णाए धित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
 अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥ २९९ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्धेतुं हि यच्छक्यते
 चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
 भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
 भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥ १८२ ॥

अब, 'चेतना के द्वैत-अद्वैत से ही आत्मस्वरूप की सिद्धि होती है' - यह बताते हुए चेतना के ग्रहण की प्रेरणा, एक कलश द्वारा देते हैं -

(हरिगीत)

है यद्यपि अद्वैत ही यह, चेतना इस जगत् में ।
किन्तु फिर भी ज्ञान-दर्शन, भेद से दो रूप है ॥
यह चेतना-दर्शन सदा, सामान्य अवलोकन करे ।
पर ज्ञान जाने सब विशेषों, को तदपि निज में रहे ॥
अस्तित्व ही ना रहे इनके, बिना चेतन द्रव्य का ।
चेतना के बिना चेतन द्रव्य का अस्तित्व क्या? ॥
चेतन नहीं बिन चेतना, चेतन बिना ना चेतना ।
बस! इसलिए हे आत्मन्! इनमें सदा ही चेत ना ॥ १८३ ॥

ॐ ह्रीं द्वैताद्वैतस्वरूपचेतनायाः ग्रहणग्राहणप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ २०६ ॥

अब, 'स्व-पर का भेद जाननेवाला ज्ञानी, पर को नहीं अपनाता है,' - यह एक कलश और एक गाथा द्वारा कहते हैं -

(दोहा)

चिन्मय चेतनभाव है, पर हैं पर के भाव ।
उपादेय चिद्भाव है, हेय सभी परभाव ॥ १८४ ॥

(हरिगीत)

निज आत्मा को शुद्ध अर पररूप पर को जानता ।
है कौन बुध जो जगत में परद्रव्य को अपना कहे ॥ ३०० ॥

ॐ ह्रीं परभावममत्वनिवारकभेदज्ञानिनः स्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २०७ ॥

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्गमिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्गमिरूपास्तु चित् ॥ १८३ ॥

(इन्द्रवज्रा)

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥ १८४ ॥

(गाथा)

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३०० ॥

अब, 'मुमुक्षुओं को मोक्ष-प्रदायक किस सिद्धान्त का सेवन करना चाहिए,'
यह कलश द्वारा कहते हैं - (हरिगीत)

मैं तो सदा ही शुद्ध परमानन्द चिन्मयज्योति हूँ।
सेवन करें सिद्धान्त यह सब ही मुमुक्षु बन्धुजन ॥
जो विविध परभाव मुझमें दिखें वे मुझ से पृथक्।
वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे लिए परद्रव्य हैं ॥ १८५ ॥

ॐ ह्रीं मोक्षप्रदायकसिद्धान्तप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥२०८॥

अब, 'पर को ग्रहण करनेवाले अपराधी हैं, वे कर्म से बँधते हैं तथा
स्वद्रव्य में रत निरपराधी हैं, वे कर्म से नहीं बँधते हैं,' - यह एक कलश और
तीन गाथाओं में सोदाहरण कहते हैं -

(दोहा)

परग्राही अपराधिजन, बाँधे कर्म सदीव ।
स्व में ही संवृत्त जो, वे ना बँधे कदीव ॥ १८६ ॥

(हरिगीत)

अपराध चौर्यादिक करें, जो पुरुष वे शंकित रहें।
कि चोर है यह जानकर, कोई मुझे ना बाँध ले ॥ ३०१ ॥
अपराध जो करता नहीं, निःशंक जनपद में रहे।
बँध जाऊँगा ऐसी कभी, चिन्ता न उसके चित रहे ॥ ३०२ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैः, मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं, ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा, भावाः पृथग्लक्षणाः,
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम पर-द्रव्यं समग्रा अपि ॥ १८५ ॥

(अनुष्टुभ्)

परद्रव्यग्रहं कुर्वन्, बध्येतैवाऽपराधवान्।
बध्येताऽनपराधो न, स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥ १८६ ॥

(गाथा)

थेयादी अवराहे जो कुव्वदि सो उ संकिदो भमइ।
मा बज्झेज्जं केण वि चोरी ति जणमिह्ति वियरंतो ॥ ३०१ ॥
जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदि भमदि।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥ ३०२ ॥

अपराधी जिय 'मैं बँधूँगा', इस तरह नित शंकित रहे।

पर निरपराधी आतमा, भयरहित है निःशंक है ॥ ३०३ ॥

ॐ ह्रीं परग्राही-अपराधी-बन्धकः स्वग्राही-निरपराधी-अबन्धकः इति प्ररूपक
-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥२०९॥

अब, 'अपराध और निरपराध का स्वरूप' दो गाथाओं में कहते हैं -

(हरिगीत)

साधित अराधित राध अर, संसिद्धि सिद्धि एक है।

बस! राध से जो रहित है, वह आतमा अपराध है ॥ ३०४ ॥

निरपराध है जो आतमा, वह आतमा निःशंक है।

'मैं शुद्ध हूँ' - यह जानता, आराधना में रत रहे ॥ ३०५ ॥

ॐ ह्रीं अध्यात्मदृष्ट्या अपराध-निरपराधस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥२१०॥

अब, आगामी कलश में 'अपराध व निरपराध का फल' बताते हैं -

(हरिगीत)

जो सापराधी निरन्तर वे, कर्म-बन्धन कर रहे।

जो निरपराधी वे कभी भी, कर्म-बन्धन ना करें।

अशुद्ध जाने आतमा को, सापराधी जन सदा।

शुद्धात्म-सेवी निरपराधी, शान्ति सेवें सर्वदा ॥ १८७ ॥

ॐ ह्रीं अपराध-निरपराधफलनिरूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं ... ॥२११॥

एवमिह सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।

जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥ ३०३ ॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं।

अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ॥ ३०४ ॥

जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिओ उ सो होइ।

आराहणाइ णिच्चं वट्ठेइ अहं ति जाणंतो ॥ ३०५ ॥

(मालिनी)

अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः

स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो

भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥ १८७ ॥

अब, 'व्यवहार प्रतिक्रमणादि (शुभभाव) विषकुंभ हैं और अप्रतिक्रमणादि अमृतकुंभ हैं' यह दो गाथाओं में कहते हैं -

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण, परिहार निवृत्ति धारणा ।
निन्दा गरहा और शुद्धि, अष्टविध विषकुम्भ हैं ॥ ३०६ ॥
अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण, अर अपरिहार अधारणा ।
अनिन्दा अनिवृत्त्यशुद्धि अगर्हा अमृतकुम्भ हैं ॥ ३०७ ॥

ॐ ह्रीं प्रतिक्रमणादीन् विषकुम्भाः अप्रतिक्रमणादीन्मृतकुम्भाश्चेति प्रतिपादक-
श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २१२ ॥

अब, 'व्यवहार-प्रतिक्रमण की हेयता जानकर, प्रमादी न होते हुए आत्मध्यान में रत रहने की प्रेरणा', आगामी कलश में आचार्यदेव देते हैं -

(हरिगीत)

अरे! मुक्तिमार्ग में, चापल्य अर परमाद को ।
है नहीं कोई जगह, कोई और आलम्बन नहीं ॥
बस! इसलिए ही जब तलक, आनन्दघन निज आतमा ।
की प्राप्ति न हो तब तलक तुम, नित्य ध्यावो आतमा ॥ १८८ ॥

ॐ ह्रीं निष्प्रमादतया-आत्मध्यानप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं ... ॥ २१३ ॥

(गाथा)

पडिक्रमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्टुविहो होदि विसकुंभो ॥ ३०६ ॥
अप्पडिक्रमणप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदा गरहा सोही अमयकुंभो ॥ ३०७ ॥

(अज्ञात छन्द)

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां,
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम् ।
आत्मन्येवालानितं च चित्तमा-
सम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ १८८ ॥

अब आगामी तीन कलशों में कहते हैं कि 'प्रमाद छोड़कर आत्म-लीन ही रहना चाहिए, चूँकि ऐसा करनेवाले मुनिवर ही बन्ध-मुक्त होते हैं' -

(रोला)

प्रतिक्रमण भी अरे! जहाँ विष-जहर कहा हो।

अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को॥

अरे! प्रमादी लोग अधोऽधः क्यों जाते हैं?।

इस प्रमाद को त्याग ऊर्ध्व में क्यों नहीं जाते?॥ १८९ ॥

कषायभाव से आलस करना ही प्रमाद है।

यह प्रमाद का भाव शुद्ध कैसे हो सकता?॥

निजरस से परिपूर्ण भाव में अचल रहें जो।

अल्पकाल में वे मुनिवर ही बन्ध-मुक्त हों॥१९० ॥

अरे! अशुद्धता करनेवाले परद्रव्यों को।

अतः दूर से त्याग स्वयं में लीन रहें जो॥

अपराधों से दूर बन्ध का नाश करें वे।

शुद्धभाव को प्राप्त मुक्त हो जाते हैं वे॥ १९१ ॥

ॐ ह्रीं निष्प्रमादतया स्वरसनिर्भरमुनय एव मुक्तिपात्राः इति प्ररूपक-
श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥२१४॥

(वसन्ततिलका)

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं, तत्राऽप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १८९ ॥

(पृथ्वी)

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः

कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।

अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्

मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥ १९० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं

स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।

बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-

च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १९१ ॥

अब, पुनः अधिकार के अन्त में 'बन्ध को छेद कर, मुक्ति का अनुभव करनेवाले ज्ञान की महिमा' करके उसकी स्तुति करते हैं -

(रोला)

बन्ध-छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आत्मा।
निजरस से गम्भीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय ॥
उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय।
अचल अनाकुल अज अखण्ड यह ज्ञानदिवाकर ॥१९२॥

ॐ ह्रीं मोक्षप्रदायक-श्रीज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २१५ ॥

जयमाला

(दोहा)

बन्ध-मोक्ष अधिकार की, पूजन हुई पवित्र।
शान्ति प्राप्त सबको हुई, थे जितने भी भव्य ॥१॥

(मानव)

कर्मों से नहीं बँधा मैं, न हिंसा से चेतन की।
तन-मन-वचनों से भी मैं, अब तक तो नहीं बँधा हूँ ॥
पंचेन्द्रिय के भोगों से, बन्धन में नहीं पड़ा हूँ।
रागादिक भावों से ही, बन्धन में यहाँ पड़ा हूँ ॥२॥
यद्यपि यह सारी दुनिया, कर्मों से भरी हुई है।
केवलि का योग जगत् में, सबसे ज्यादा चलता है ॥

(मन्दाक्रान्ता)

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम् ।
एकाकार-स्व-रस-भरतो-ऽत्यंत-गंभीर-धीरं
पूर्ण ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥ १९२ ॥

जीवों का मरण जगत में, तो होता ही रहता है।
 भोगों को भी रागीजन, दिन-रात भोगते रहते ॥३॥
 उनके कारण ज्ञानी को, रे! बन्ध नहीं होता है।
 रे! राग-द्वेष से बँधते, सारे अज्ञानी जग में ॥
 सारे संयोग मिलें पर, यदि राग-द्वेष ही ना हो।
 तो बन्ध नहीं होता है, निर्बन्ध सदा वे रहते ॥४॥
 अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, भोगों में नहीं दिखे पर।
 वे रागादिक होने से, बँधते हैं अरे! निरन्तर ॥
 कर्मादिक से ना बँधते, ना क्रियाकाण्ड से छूटें।
 रागादिक से बँधते हैं, वैराग्यभाव से छूटें ॥५॥
 यह निश्चित जानो भाई! ना मारे कोई किसी को।
 मरते हैं सभी समय पर, जीवित रहते जीवन भर ॥
 रे ! आयुकर्म के क्षय से, मरते हैं सभी जनावर।
 अर आयुकर्म - उदय से, जीवित रहते हैं वे सब ॥६॥
 सुख-दुःख अर जीना-मरना, करते हैं अपना-अपना।
 नहीं कोई किसी का करता, करते सब अपना-अपना ॥
 अपने भावों की कर्ता-भोक्ता है सारी दुनिया।
 अपने भावों के फल को, चखती है सारी दुनिया ॥ ७॥
 यद्यपि यह बात सही है, कि कर्मोदय होता है।
 अनुरूप उसी के सबका, परिणामन सदा होता है ॥
 यह बात भले हो लेकिन, अनुरूप परिणामन होता।
 अनुरूप भले हो भाई, कर्मोदय कुछ नहीं करता ॥८॥

कर्मोदय कुछ नहीं करता, ना कर्मों से कुछ होता ।
 बस! बात मात्र इतनी है, जब कार्य स्वयं है होता ॥
 उसके अनुकूल सदा ही, कर्मोदय भी है होता ।
 जब कार्य स्वयं होता तब, अनुकूल निमित्त भी होता ॥१॥
 हों बन्ध-मोक्ष अपने से, कर्मों से कभी न होंगे ।
 हम पूरे उत्तरदायी, यह बात समझना भाई! ॥
 यह समझा करके सबको, अपनाना भी है भाई ! ।
 हम पूरे उत्तरदायी, अब अधिक कहें क्या भाई! ॥१०॥

(दोहा)

बन्धन का कारण अरे! एकमात्र है राग ।
 राग-आग को त्याग कर, निज को निज में पाग ॥११॥

ॐ ह्रीं बन्ध-मोक्षस्वरूपप्ररूपक-बन्धमोक्षाधिकाराभ्यां जयमाला पूर्णाध्यां
 निर्वपामीति स्वाहा ।

(दोहा)

इसप्रकार पूरण हुआ, बन्ध-मोक्ष अधिकार ।
 अब अगले अधिकार में, सर्वविशुद्धिद्वार ॥१२॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

मिथ्याध्यवसाय

यद्यपि मारने और दुःखी करने के भाव की अपेक्षा बचाने और सुखी करने का भाव प्रथम दृष्टि में कुछ अच्छा प्रतीत होता है; तथापि वस्तुस्वरूप की विपरीतता अर्थात् मिथ्यापना दोनों में समानरूप से विद्यमान है । इसीलिए इनमें भेद खोजना बुद्धिमानी का काम नहीं । तात्पर्य इतना ही है कि कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले शुभ और अशुभ - दोनों ही भाव समानरूप से मिथ्याध्यवसाय हैं और वे ही बंध के कारण हैं ।

- समयसार ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका, बंधाधिकार पृष्ठ ३७८

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार पूजन

स्थापना

(दोहा)

उक्त भाव हैं स्वांग सब, सर्वविशुद्ध स्वभाव ।
 स्वांग नहीं वह मूलतः, आतम-वस्तु स्वभाव ॥१॥
 शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन, सब द्रव्यों से भिन्न ।
 ज्ञान-स्वभावी आतमा, ही है सर्वविशुद्ध ॥२॥
 स्वामी-कर्ता-भोक्ता, कोई भी सम्बन्ध ।
 नहीं किसी से रंच भी, इसका नाम विशुद्ध ॥३॥
 सर्वविशुद्ध इस ज्ञान की, महिमा अपरम्पार ।
 यह आतम का रूप निज, इसका आर न पार ॥४॥
 यही परम परमात्मा, यह देवन का देव ।
 इसकी महिमा अगम हम, करते इसकी सेव ॥५॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार! अत्र अवतर-
 अवतर संवौषट् ।

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार!! अत्र तिष्ठ-
 तिष्ठ ठः ठः ।

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार!!! अत्र मम
 सन्निहितो भव-भव वषट् । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(वीर)

जल

यह जल मल-शोधक है प्रसिद्ध, यह अपना काम करेगा ही ।
 इससे क्या हम अभिलाष करें, जो होता है वह होगा ही ॥
 यह समयसार का सार अहो! यह है स्वभाव परमात्म का ।
 सर्वविशुद्धज्ञान है यह, यह है स्वभाव निज आतम का ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय जन्मजरामृत्यु
 विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

चन्दन

शीतल चन्दन भव ताप हरे चन्दन सा शान्त आतमा है ।
निज आतम का जो ध्यान धरे यह भी भव का संताप हरे ॥
यह सार समयसार का है, यह है स्वभाव परमात्म का ।
सर्वविशुद्धज्ञान है यह, यह है स्वभाव निज आतम का ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय संसारताप
विनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

अक्षत

अक्षत अक्षतसम यह आतम, यह अज अखण्ड अविनाशी है ।
इसके आश्रय से सुनो भव्य, पर्यय अक्षत हो जाती है ॥
यह सार समयसार का है, यह है स्वभाव परमात्म का ।
सर्वविशुद्धज्ञान है यह, यह है स्वभाव निज आतम का ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय अक्षयपदप्राप्तये
अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ।

पुष्प

सुरतरु के पुष्पों के समान, यह आतम परम अहिंसक है ।
इसके आश्रय से सुनो भव्य, होती पर्याय अहिंसक है ॥
यह सार समयसार का है, यह है स्वभाव परमात्म का ।
सर्वविशुद्धज्ञान है यह, यह है स्वभाव निज आतम का ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय कामबाण
विध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

नैवेद्य

मीठे पकवानों-सा मीठा यह, अरस आतमा रसमय है ।
इस आतम के रस से अपना, जीवन हो जाता रसमय है ॥
यह सार समयसार का है, यह है स्वभाव परमात्म का ।
सर्वविशुद्धज्ञान है यह, यह है स्वभाव निज आतम का ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय क्षुधारोग
विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

दीप

ज्यों स्वपर प्रकाशक दीपक है, त्यों स्वपरप्रकाशक आतम है।
जो करे प्रकाश निजातम का, ऐसा आतम परमातम है ॥
यह सार समयसार का है, यह है स्वभाव परमातम का।
सर्वविशुद्धज्ञान है यह, यह है स्वभाव निज आतम का ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय मोहान्धकार
विनाशयनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।

धूप

कर्मों की दाहक इस दशांग से कर्म आज तक जले नहीं।
पर ध्यान-अग्नि से कर्मों की राशि जलने लग जाती है ॥
यह सार समयसार का है यह है स्वभाव परमातम का।
सर्वविशुद्धज्ञान है यह यह है स्वभाव निज आतम का ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय अष्टकर्म
दहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

फल

पुण्य-पाप का फल तो हरदम, जग में मिलता रहता है।
पुण्य-पाप से पार धर्म का फल, मुक्ति में मिलता है ॥
यह सार समयसार का है, यह है स्वभाव परमातम का।
सर्वविशुद्धज्ञान है यह, यह है स्वभाव निज आतम का ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय मोक्षफलप्राप्तये
फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

अर्घ्य

अष्टद्रव्यमय अर्घ्य अरे! चरणों में अर्पण करता हूँ।
जो कुछ है मेरे पास प्रभो! सब यहीं समर्पण करता हूँ ॥
यह सार समयसार का है, यह है स्वभाव परमातम का।
सर्वविशुद्धज्ञान है यह, यह है स्वभाव निज आतम का ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूपप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय अनर्घ्यपद
प्राप्तयेऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा । (इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

अर्घ्यावली

(दोहा)

उक्त भाव हैं स्वांग सब, सर्वविशुद्धस्वभाव ।
स्वांग नहीं वह मूलतः, आत्म-वस्तु स्वभाव ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

इस अधिकार के प्रारम्भ में आचार्य अमृतचन्द्रदेव, सर्वविशुद्धज्ञान को रंगमंच पर प्रवेश कराके शुद्धात्मा की महिमास्वरूप मंगलाचरण करते हैं -

(रोला)

जिसने कर्तृ-भोक्तृभाव सब नष्ट कर दिये,
बन्ध-मोक्ष की रचना से जो सदा दूर है ।

है अपार महिमा जिसकी टंकोत्कीर्ण जो;
ज्ञानपुंज वह शुद्धात्म शोभायमान है ॥ १९३ ॥

ॐ ह्रीं सर्वविशुद्धज्ञानपुंजस्वरूप-शुद्धात्मने नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥२१६॥

सर्वप्रथम, 'आत्मा का अकर्तृत्व-स्वभाव', एक कलश और चार गाथाओं में दृष्टान्त सहित स्पष्ट करते हैं -

(दोहा)

जैसे भोक्तृस्वभाव नहीं, वैसे कर्तृस्वभाव ।
कर्तापन अज्ञान से, ज्ञान अकारकभाव ॥ १९४ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥१९३॥

(अनुष्टुभ्)

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य, चित्तो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं, तदभावादकारकाः ॥ १९४ ॥

(हरिगीत)

है जगत् में कटकादि गहनों से सुवर्ण अनन्य ज्यों।
 जिन गुणों में जो द्रव्य उपजे, उनसे जान अनन्य त्यों ॥ ३०८ ॥
 जीव और अजीव के परिणाम जो जिनवर कहे।
 वे जीव और अजीव जानो अनन्य उन परिणाम से ॥ ३०९ ॥
 ना करे पैदा किसी को बस इसलिए कारण नहीं।
 किसी से ना हो अतः यह आत्मा कारज नहीं ॥ ३१० ॥
 कर्म आश्रय होय कर्ता कर्ता आश्रय कर्म भी।
 यह नियम अन्यप्रकार से सिद्धि न कर्ता-कर्म की ॥ ३११ ॥
 ॐ ह्रीं आत्मनोऽकर्तृत्वस्वभावप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ २१७ ॥
 अब, आगामी कलश में कहते हैं कि 'यद्यपि आत्मा अकर्ता है, फिर भी
 उसे बन्ध हो रहा है, यह अज्ञान की ही महिमा है' -

(रोला)

निजरस से सुविशुद्ध जीव शोभायमान है।
 झलके लोकालोक ज्योति स्फुरायमान है ॥
 अहो! अकर्ता आत्म फिर भी बन्ध हो रहा।
 यह अपार महिमा जानो अज्ञानभाव की ॥ १९५ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञानमहिमाप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.... ॥ २१८ ॥

(गाथा)

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणणं।
 जह कड्यादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणणमिह ॥ ३०८ ॥
 जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
 तं जीवमजीवं वा तेहिमणणं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
 ण कुद्दोचि वि उप्पणो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
 उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ॥ ३१० ॥
 कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
 उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसदे अण्णा ॥ ३११ ॥

(शिखरिणी)

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
 स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
 तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः
 स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥ १९५ ॥

आगामी दो गाथाओं में 'आत्मा और कर्मप्रकृति में निमित्त-नैमित्तिक भाव से ही कर्ता-कर्म सम्बन्ध, बन्ध और संसार होता है,' यह कहते हैं -

(हरिगीत)

उत्पन्न होता नष्ट होता, जीव प्रकृति-निमित्त से ।

उत्पन्न होती नष्ट होती, प्रकृति जीव-निमित्त से ॥ ३१२ ॥

यों परस्पर निमित्त से हो, बन्ध जीव रु कर्म का ।

बस! इसतरह ही उभय से, संसार की उत्पत्ति हो ॥ ३१३ ॥

ॐ ह्रीं आत्म-प्रकृत्योः निमित्त-नैमित्तिकभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥२१९॥

अब, दो गाथाओं में यह कहते हैं कि 'प्रकृति-निमित्तक परिणमन करने वाला मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयत है तथा ऐसा परिणमन छोड़नेवाला सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी और संयमी है' -

(हरिगीत)

जब तक न छोड़े आतमा, प्रकृति-निमित्तक परिणमन ।

तब तक रहे अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि एवं असंयत ॥ ३१४ ॥

जब अनन्ता कर्म का फल, छोड़ दे यह आतमा ।

तब मुक्त होता बन्ध से, सद्दृष्टि ज्ञानी संयमी ॥ ३१५ ॥

ॐ ह्रीं मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्टिस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥२२०॥

(दूहा)

चेदा दु पयडीअट्टं उप्पज्जइ विणस्सइ ।

पयडी वि चेययट्टं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥ ३१२ ॥

एवं बंधो उ दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।

अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ॥ ३१३ ॥

जा एस पयडीअट्टं चेदा णेव विमुच्चए ।

अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ ॥ ३१४ ॥

जदा विमुच्चए चेदा कम्मफलमणंतयं ।

तदा विमुत्तो हवदि जाणओ पासओ मुणी ॥ ३१५ ॥

अब, आगामी कलश में कहते हैं कि 'आत्मा, अज्ञान से भोक्ता बनता है, ज्ञान से अभोक्ता ही है' -

(दोहा)

जैसे कर्तृस्वभाव नहीं, वैसे भोक्तृस्वभाव ।

भोक्तापन अज्ञान से, ज्ञान अभोक्ताभाव ॥ १९६ ॥

ॐ ह्रीं अभोक्तास्वभावप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ २२१ ॥

आगामी एक गाथा और एक कलश में प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि 'प्रकृति-स्वभाव-स्थित अज्ञानी भोक्ता है और प्रकृति-स्वभाव-विरत ज्ञानी अभोक्ता है; अतः अज्ञानभाव छोड़कर शुद्धात्ममय ज्ञानभाव को अपनाओ' -

(हरिगीत)

प्रकृतिस्वभाव-स्थित अज्ञान ही, नित्य भोगें कर्मफल ।

पर नहीं भोगें विज्ञान, वे जानते हैं कर्मफल ॥ ३१६ ॥

(रोला)

प्रकृतिस्वभावरत अज्ञानी हैं सदा भोगते ।

प्रकृतिस्वभाव से विरत ज्ञानिजन कभी न भोगें ॥

निपुणजनों ! निजशुद्धात्ममय ज्ञानभाव को ।

अपनाओ तुम सदा, त्याग अज्ञानभाव को ॥ १९७ ॥

ॐ ह्रीं शुद्धात्ममयज्ञानभावप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं नि. स्वाहा ॥ २२२ ॥

(अनुष्टुभ्)

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य, स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः ।

अज्ञानादेव भोक्ताऽयं, तदभावादवेदकः ॥ १९६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानी प्रकृतिस्व भावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको;

ज्ञानी तु प्रकृतिस्व भावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।

इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां,

शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥ १९७ ॥

(गाथा)

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्टिदो दु वेदेदि ।

णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि ॥ ३१६ ॥

अब दो गाथाओं एवं एक कलश में यह सुनिश्चित करते हैं कि 'अज्ञानी विषय-भोगों का भोक्ता है और ज्ञानी भोक्ता नहीं है, अभोक्ता ही है' -

(हरिगीत)

गुड़-दूध पीता हुआ भी, निर्विष न होता सर्प ज्यों ।
 त्यों भलीभाँति शास्त्र पढ़कर, अभवि प्रकृति न तजे ॥ ३१७ ॥
 निर्वेद से सम्पन्न ज्ञानी, मधुर-कड़वे नेकविध ।
 वे जानते हैं कर्मफल को, हैं अवेदक इसलिए ॥ ३१८ ॥

(सोरठा)

निश्चल शुद्धस्वभाव, ज्ञानी करे न भोगवे ।

जाने कर्मस्वभाव, इस कारण वह मुक्त है ॥ १९८ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञानिनः वेदकः - ज्ञानिनोऽवेदकश्चेति-स्वरूपप्ररूपक-
 श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २२३ ॥

अब, आगामी दो गाथाओं में इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए दृष्टि (नेत्र) का उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि 'ज्ञान, नेत्र के समान अपने विषय का कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता है'; इसी गाथा के बाद आचार्य जयसेन ने मोक्ष अधिकार का समापन किया है, जिसमें 'परम पारिणामिकभाव के स्वरूप' को अत्यन्त स्पष्टता के साथ समझाया है -

(हरिगीत)

ज्ञानी करे, भोगे नहीं बस! सभी विध-विध करम को ।

वह जानता है कर्मफल - बन्ध, पुण्य एवं पाप को ॥ ३१९ ॥

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुत्तु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
 गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥ ३१७ ॥
 णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेदि।
 महुरं कडुयं बहुविह-मवेयओ तेण सो होइ ॥ ३१८ ॥

(वसन्ततिलका)

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म; जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।

जानन्परं करणवेदनयोरभावात्, शुद्धस्वभावानियतः स हि मुक्त एव ॥ १९८ ॥

(गाथा)

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं।
 जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३१९ ॥

ज्यों दृष्टि त्यों ही ज्ञान जग में, है अकारक अवेदक ।

जाने करम के बन्ध-उदय, मोक्ष एवं निर्जरा ॥ ३२० ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानिनः अकारक-अवेदकस्वरूपप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.. ॥२२४॥

अब, एक कलश और तीन गाथाओं में यह कहते हैं कि 'कर्तृत्व के अज्ञान से ग्रस्त मुमुक्षुओं को भी सामान्यजनों की तरह मोक्ष नहीं होता' -

(हरिगीत)

निज आतमा ही करे सबकुछ, मानते अज्ञान से ।

हों यद्यपि वे मुमुक्षु पर, रहित आतमज्ञान से ॥

अध्ययन करें, चारित्र पालें, और भक्ति करें पर ।

लौकिकजनों वत् उन्हें भी तो, मुक्ति की प्राप्ति न हो ॥ १९९ ॥

(हरिगीत)

जगत्-जन यों कहें विष्णु करे सुर-नरलोक को ।

रक्षा करूँ षट्काय की, यदि श्रमण भी माने यही ॥ ३२१ ॥

तो ना श्रमण अर लोक के, सिद्धान्त में अन्तर रहा ।

सम मान्यता में विष्णु एवं, आतमा कर्ता रहा ॥ ३२२ ॥

इस तरह कर्तृत्व से नित, ग्रसित लोक रु श्रमण को ।

रे! मोक्ष दोनों का दिखाई, नहीं देता है मुझे ॥ ३२३ ॥

ॐ ह्रीं परकर्तृत्वसद्भावे मुमुक्षुणामपि मोक्षाऽभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥२२५॥

(गाथा)

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।

जाणइ य बंधमोक्खं कम्मदयं णिज्जरं चेव ॥ ३२० ॥

(अनुष्टुभ्)

ये तु कर्तारमात्मानं, पश्यन्ति तमसा तताः ।

सामान्यजनवत्तेषां, न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम् ॥ १९९ ॥

(गाथा)

लोकस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।

समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे कारे ॥ ३२१ ॥

लोकसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो ।

लोकस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि ॥ ३२२ ॥

एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोकसमणाणं दोण्हं पि ।

णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥ ३२३ ॥

अब 'आत्मा, परद्रव्यों का कर्ता क्यों नहीं है?' यह एक कलश में सतर्क सिद्ध करते हैं - (दोहा)

जब कोई सम्बन्ध ना, पर अरु आतम माँहि ।

तब कर्ता परद्रव्य का, किसविध आत्म कहाँहि ॥ २०० ॥

ॐ ह्रीं परद्रव्याऽऽत्मत्वयोः सर्वसम्बन्धप्रतिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥२२६॥

अब, तीन गाथाओं में कहते हैं कि 'भले ही अज्ञानी, परद्रव्य को अपना कहें, उनका कर्ता-धर्ता अपने को मानें, पर ज्ञानीजन ऐसा नहीं मानते' -

(हरिगीत)

अतत्त्वविद् व्यवहार ग्रह, परद्रव्य को अपना कहें ।

पर तत्त्वविद् जाने कि पर-परमाणु भी मेरा नहीं ॥ ३२४ ॥

ग्राम जनपद राष्ट्र मेरा, कहे कोई जिसतरह ।

किन्तु वे उसके नहीं हैं, मोह से ही वह कहे ॥ ३२५ ॥

इसतरह जो 'परद्रव्य मेरा' - जानकर अपना करे ।

संशय नहीं वह ज्ञानी, मिथ्यादृष्टि ही है जानना ॥ ३२६ ॥

'मेरे नहीं ये' - जानकर, तत्त्वज्ञ ऐसा मानते ।

है अज्ञता कर्तृत्वबुद्धि, लोक एवं श्रमण की ॥ ३२७ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञ-तत्त्वज्ञयोः स्वरूपप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥२२७॥

(अनुष्टुभ्)

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः, परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।

कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाऽभावे तत्कर्तृता कुतः ॥ २०० ॥

(गाथा)

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था ।

जाणंति णिच्छरणं दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि ॥ ३२४ ॥

जह को वि णरो जंपदि अम्हं गामविसयणयरदुं ।

ण य होंति जस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥ ३२५ ॥

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवदि एसो ।

जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि ॥ ३२६ ॥

तम्हा ण मे ति णच्चा दोण्ह वि एदाण कत्तविसायं ।

परदव्वे जाणंतो जाणेज्जो दिट्ठिरहिदाणं ॥ ३२७ ॥

अब, पुनः कहते हैं कि 'जब दो द्रव्यों के बीच कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो कर्ता-कर्मभाव कैसे हो सकता है? अतः अपने को अकर्ता ही जानें -

(रोला)

जब कोई सम्बन्ध नहीं है दो द्रव्यों में।

तब फिर कर्ता-कर्मभाव भी कैसे होगा?॥

इसीलिए तो मैं कहता हूँ निज को जानो।

सदा अकर्ता अरे जगतजन! अरे मुनिजन!!॥ २०१ ॥

ॐ ह्रीं सर्वजन-अकर्तृत्वप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं....॥२२८॥

अब, 'वस्तु-स्वभाव को नहीं जाननेवाले अज्ञानी ही भावकर्म के कर्ता होते हैं,' ऐसा एक कलश द्वारा कहते हैं -

(रोला)

इस स्वभाव के सहज नियम जो नहीं जानते,

अरे बिचारे! वे तो डूबे भवसागर में।

विविध कर्म को करते हैं बस इसीलिए वे,

भावकर्म के कर्ता होते अन्य कोई ना॥ २०२ ॥

ॐ ह्रीं वस्तुस्वभावाऽज्ञायकानामेव भावकर्मकर्तृत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥२२९॥

आगामी चार गाथाओं एवं एक कलश में सतर्क यह सिद्ध करते हैं कि 'जीव के भावकर्मों का कर्ता जीव ही है, अचेतन-कर्म-प्रकृति नहीं' -

(हरिगीत)

मिथ्यात्व नामक प्रकृति, मिथ्यात्वी करे यदि जीव को।

फिर तो अचेतन प्रकृति ही, कर्तापने को प्राप्त हो॥ ३२८ ॥

(वसन्ततिलका)

एकस्य वस्तुन इहाऽन्यतरेण सार्धं, सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।

तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे, पश्यन्त्वकर्तृमुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्॥ २०१ ॥

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-, मज्ञान-मग्नमहसो बत ते वराकाः।

कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म, कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः॥ २०२ ॥

(गाथा)

मिच्छतं यदि पयडी मिच्छादिट्टी करेदि अप्पाणं।

तम्हा अचेदणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो॥ ३२८ ॥

अथवा करे यह जीव पुद्गल-दरब के मिथ्यात्व को।
 मिथ्यात्वमय पुद्गल-दरब ही, सिद्ध होगा जीव ना ॥ ३२९ ॥
 यदि जीव प्रकृति उभय मिल, मिथ्यात्वमय पुद्गल करे।
 फल भोगना होगा उभय को, उभयकृत मिथ्यात्व का ॥ ३३० ॥
 यदि जीव प्रकृति ना करें, मिथ्यात्वमय पुद्गल-दरब।
 मिथ्यात्वमय पुद्गल सहज, क्या नहीं यह मिथ्या कहा ॥ ३३१ ॥

(रोला)

अरे ! कार्य कर्ता के बिन नहीं हो सकता।
 भावकर्म भी एक कार्य है सब जग जाने ॥
 और पौद्गलिक प्रकृति सदा ही रही अचेतन।
 वह कैसे कर सकती चेतन भावकर्म को ? ॥
 प्रकृति-जीव दोनों ही मिलकर उसे करें यदि।
 तो फिर दोनों मिलकर ही फल क्यों ना भोगें ? ॥
 भावकर्म तो चेतन का ही करे अनुसरण।
 इसकारण यह जीव कहा है उनका कर्ता ॥ २०३ ॥

ॐ हीं जीवस्य भावकर्मकर्तृत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ २३० ॥

अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।
 तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छदिट्ठी ण पुण जीवो ॥ ३२९ ॥
 अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणांति मिच्छत्तं।
 तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं ॥ ३३० ॥
 अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
 तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥ ३३१ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
 रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः ।
 नैकस्याः प्रकृतेरचित्तलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
 जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥ २०३ ॥

अब, 'सांख्यमत के समान, आत्मा को सर्वथा अकर्ता माननेवालों को कर्तृत्व के सम्बन्ध में जैनदर्शन के स्याद्वाद का स्पष्टीकरण' एक कलश और तेरह गाथाओं में करते हैं -

(रोला)

कोई कर्ता मान कर्म को भावकर्म का,
 आतम का कर्तृत्व उड़ाकर अरे! सर्वथा।
 और कथंचित् कर्ता आतम कहनेवाली;
 स्याद्वादमय जिनवाणी को कोपित करते ॥
 उन्हीं मोहमोहितमतिवाले अल्पज्ञों के,
 सम्बोधन के लिए सहेतुक स्याद्वादमय।
 वस्तु का स्वरूप समझाते अरे भव्यजन!,
 अब आगे की गाथाओं में कुन्दकुन्द मुनि ॥ २०४ ॥

(हरिगीत)

कर्म अज्ञानी करे अर, कर्म ही ज्ञानी करे ।
 जिय को सुलावे कर्म ही, अर कर्म ही जागृत करे ॥ ३३२ ॥
 कर्म करते सुखी एवं, दुःखी करते कर्म ही ।
 मिथ्यात्वमय कर्महि करे, अर असंयमी भी कर्म ही ॥ ३३३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
 कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता ।
 तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
 स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥ २०४ ॥

(गाथा)

कम्महेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्महेहिं ।
 कम्महेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्महेहिं ॥ ३३२ ॥
 कम्महेहि सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्महेहिं ।
 कम्महेहि य मिच्छन्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव ॥ ३३३ ॥

कर्म ही जिय को भ्रमाते, ऊर्ध्व-अध-तिरलोक में।
 जो कुछ जगत् में शुभ-अशुभ, वह कर्म ही करते रहें ॥ ३३४ ॥
 कर्म करते, कर्म देते, कर्म हरते हैं सदा।
 यह सत्य है तो सिद्ध होंगे, अकारक सब आत्मा ॥ ३३५ ॥
 नरवेद है महिलाभिलाषी, नार चाहे पुरुष को।
 परम्परा आचार्यों से, बात यह श्रुतपूर्व है ॥ ३३६ ॥
 अब्रह्मचारी नहीं कोई, हमारे उपदेश में।
 क्योंकि ऐसा कहा है कि, कर्म चाहे कर्म को ॥ ३३७ ॥
 जो मारता है अन्य को, या मारा जावे अन्य से।
 परघात नामक कर्म की ही, प्रकृति का यह काम है ॥ ३३८ ॥
 परघात करता नहीं कोई, हमारे उपदेश में।
 क्योंकि ऐसा कहा है कि, कर्म मारे कर्म को ॥ ३३९ ॥
 सांख्य के उपदेशसम जो, श्रमण प्रतिपादन करें।
 कर्ता प्रकृति उनके यहाँ पर, है अकारक आत्मा ॥ ३४० ॥

कम्मेहि भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियल्लोयं च।
 कम्मेहि चेव किज्जदि सुहासुहं जेतियं किचि ॥ ३३४ ॥
 जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि ति जं किचि।
 तम्हा उ सव्वजीवा अकारगा होंति आवण्णा ॥ ३३५ ॥
 पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
 एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥ ३३६ ॥
 तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे।
 जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भण्णदं ॥ ३३७ ॥
 जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी।
 एदेणत्थेण किल भण्णदि परघादणामेत्ति ॥ ३३८ ॥
 तम्हा ण को वि जीवो वघादेओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
 जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इदि भण्णदं ॥ ३३९ ॥
 एवं संखुवएसं जे उ परूवेत्ति एरिसं समणा।
 तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे ॥ ३४० ॥

या मानते हो यह कि, मेरा आतमा निज को करे।
तो यह तुम्हारा मानना, मिथ्यास्वभावी जानना ॥ ३४१ ॥
क्योंकि आतम नित्य है, एवं असंख्य-प्रदेशमय।
ना उसे इससे हीन अथवा, अधिक करना शक्य है ॥ ३४२ ॥
विस्तार से भी जीव का, जीवत्व लोक-प्रमाण है।
ना होय हीनाधिक कभी, कैसे करे जिय द्रव्य को ॥ ३४३ ॥
यदी माने रहे ज्ञायक भाव ज्ञानस्वभाव में।
तो भी आतम स्वयं अपने, आतमा को ना करे ॥ ३४४ ॥

ॐ ह्रीं जीवस्य कथञ्चित् कर्तृत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ २३१ ॥

अब, पुनः 'कर्तृत्व के सम्बन्ध में स्याद्वाद का अनुसरण करने की प्रेरणा'
कलश द्वारा देते हैं -

(रोला)

अरे! जैन होकर भी सांख्यों के समान ही,
इस आतम को सदा अकर्ता तुम मत मानो।
भेदज्ञान के पूर्व राग का कर्ता आतम;
भेदज्ञान होने पर सदा अकर्ता जानो ॥ २०५ ॥

ॐ ह्रीं कर्तृत्वसम्बन्धी-स्याद्वादग्रहणप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ २३२ ॥

अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ॥ ३४१ ॥
अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि।
ण वि सो सक्कदि ततो हीणो अहिओ य कादुं जे ॥ ३४२ ॥
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु।
ततो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणदि दव्वं ॥ ३४३ ॥
अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे ति मदं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥ ३४४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥ २०५ ॥

अब, 'बौद्धमत के समान आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानकर, स्वकर्तृत्व स्वीकार करते हुए भी स्वभोक्तृत्व नकारने वाले अज्ञानियों को' दो कलश और चार गाथाओं में समझाते हैं -

(रोला)

जो कर्ता वह नहीं भोगता इस जगती में,
ऐसा कहते कोई आत्मा क्षणिक मानकर ।
नित्यरूप से सदा प्रकाशित स्वयं आतमा,
मानो उनका मोह निवारण स्वयं कर रहा ॥ २०६ ॥

(सोरठा)

वृत्तिमान हो नष्ट, वृत्त्यंशों के भेद से ।
कर्ता-भोक्ता भिन्न, इस भय से मानो नहीं ॥ २०७ ॥

(हरिगीत)

यह आतमा हो नष्ट, कुछ पर्याय से कुछ से नहीं ।
जो भोगता वह करे अथवा, अन्य यह एकान्त ना ॥ ३४५ ॥
यह आतमा हो नष्ट, कुछ पर्याय से कुछ से नहीं ।
जो करे भोगे वही अथवा, अन्य यह एकान्त ना ॥ ३४६ ॥

(मालिनी)

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्तोर्विभेदम् ।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिचश्चिच्चमत्कार एव ॥ २०६ ॥

(अनुष्टुभ्)

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥ २०७ ॥

(गाथा)

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४५ ॥
केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा वेददि, सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४६ ॥

जो करे भोगे नहीं वह, सिद्धान्त यह जिस जीव का ।
 वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना ॥ ३४७ ॥
 कोई करे कोई भरे, यह मान्यता जिस जीव की ।
 वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना ॥ ३४८ ॥

ॐ ह्रीं कर्तृत्व-भोक्तृत्वसम्बन्धी-अन्यत्वाऽनन्यत्वाऽनेकान्तप्ररूपक-
 श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २३३ ॥

अब, आत्मा को सर्वथा क्षणिक न मानकर, अभेद आत्मा के अनुभव
 की प्रेरणा देते हैं - (रोला)

यह आतम है क्षणिक क्योंकि यह परमशुद्ध है।
 जहाँ काल की भी उपाधि की नहीं अशुद्धि ॥
 इसी धारणा से छूटा त्यों नित्य आतमा ।
 ज्यों डोरा बिन मुक्तामणि से हार न बनता ॥ २०८ ॥
 कर्ता-भोक्ता में अभेद हो युक्तिवश से,
 भले भेद हो अथवा दोनों ही न होवें ।
 ज्यों मणियों की माला भेदी नहीं जा सके,
 त्यों अभेद आतम का अनुभव हमें सदा हो ॥ २०९ ॥

ॐ ह्रीं अभेद-आत्मानुभवप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ २३४ ॥

(गाथा)

जो चैव कुण्ठदि सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो ।
 सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४७ ॥
 अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो ।
 सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४८ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
 कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
 चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य प्रथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतै-
 रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥ २०८ ॥
 कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
 कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम् ।
 प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेतुं न शक्या क्वचि-
 च्चिच्चन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥ २०९ ॥

अब, दो कलश और छह गाथाओं में सोदाहरण कहते हैं कि 'दो भिन्न द्रव्यों के बीच कर्ता-कर्मपना व भोक्ता-भोग्यपना मात्र व्यवहार से ही कहा जाता है; निश्चय से तो यह सब एक द्रव्य में ही होता है' -

(दोहा)

अरे! मात्र व्यवहार से, कर्म रु कर्ता भिन्न ।

निश्चयनय से देखिये, दोनों सदा अभिन्न ॥ २१० ॥

(हरिगीत)

ज्यों शिल्पि कर्म करे, परन्तु कर्ममय वह ना बने ।

त्यो जीव कर्म करे परन्तु, कर्ममय वह ना बने ॥ ३४९ ॥

ज्यों शिल्पि करणों से करे, पर करणमय वह ना बने ।

त्यो जीव करणों से करे, पर करणमय वह ना बने ॥ ३५० ॥

ज्यों शिल्पि करणों को ग्रहे, पर करणमय वह ना बने ।

त्यो जीव करणों को ग्रहे, पर करणमय वह ना बने ॥ ३५१ ॥

ज्यों शिल्पि भोगे कर्मफल, तन्मय परन्तु होय ना ।

त्यो जीव भोगे कर्मफल, तन्मय परन्तु होय ना ॥ ३५२ ॥

संक्षेप में व्यवहार का, यह कथन दर्शाया गया ।

अब सुनो! परिणाम-विषयक, कथन जो परमार्थ का ॥ ३५३ ॥

(रथोद्धता)

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तुं कर्म च विभिन्नमिष्यते ।

निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तुं कर्म च सदैकमिष्यते ॥ २१० ॥

(गाथा)

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।

तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३४९ ॥

जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।

तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३५० ॥

जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि ।

तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३५१ ॥

जह सिप्पि दु कम्मफलं भुंजदि ण सो दु तम्मओ होदि ।

तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३५२ ॥

एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।

सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ॥ ३५३ ॥

शिल्पी करे जो चेष्टा, उससे अनन्य रहे सदा ।
 जीव भी जो करे वह, उससे अनन्य रहे सदा ॥ ३५४ ॥
 उस चेष्टा में मगन शिल्पी, नित्य ज्यों दुःख भोगता ।
 यह चेष्टा रत जीव भी त्यों, नित्य ही दुःख भोगता ॥ ३५५ ॥
 (दोहा)

अरे! कभी होता नहीं, कर्ता के बिन कर्म ।
 निश्चय से परिणाम ही, परिणामी का कर्म ॥
 सदा बदलता ही रहे, यह परिणामी द्रव्य ।
 एकरूप रहती नहीं, वस्तु की थिति नित्य ॥ २११ ॥
 ॐ ह्रीं कर्तृ-कर्म-भोक्तृ-भोग्य-भेदाऽभेदप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.. ॥ २३५ ॥
 'निश्चयनय का यह कथन परम सत्य है कि कोई भी वस्तु अन्य वस्तु की
 कर्ता-भोक्ता नहीं है,' ऐसा सतर्क तीन कलशों में कहते हैं -
 (रोला)

यद्यपि आतमराम शक्तियों से है शोभित ।
 और लोटता बाहर-बाहर परद्रव्यों के ॥
 पर प्रवेश पा नहीं सकेगा उन द्रव्यों में ।
 फिर भी आकुल-व्याकुल होकर क्लेश पा रहा ॥ २१२ ॥

जह सिप्पिओ दु चेट्टुं कुव्वदि हवदि य तहा अणणो से ।
 तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणणो से ॥ ३५४ ॥
 जह चेट्टुं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होदि ।
 तत्तो सिया अणणो तह चेट्टुंतो दुही जीवो ॥ ३५५ ॥
 (नदंटक)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
 स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
 न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
 स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तुं तदेव ततः ॥ २११ ॥
 (पृथ्वी)

बहिलुंठति यद्यपि स्फुटदन्तशक्तिः स्वयं
 तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
 स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
 स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥ २१२ ॥

एक वस्तु हो नहीं कभी भी अन्य वस्तु की ।
 वस्तु वस्तु की ही है - ऐसा निश्चित जानो ॥
 ०ऐसा है तो अन्य वस्तु यदि बाहर लोटे ।
 तो फिर वह क्या कर सकती है अन्य वस्तु का ॥ २१३ ॥

स्वयं परिणामित एक वस्तु यदि परवस्तु का ।
 कुछ करती है - ऐसा जो माना जाता है ॥
 वह केवल व्यवहार कथन है निश्चय से तो ।
 एक दूसरे का कुछ करना शक्य नहीं है ॥ २१४ ॥

ॐ ह्रीं निश्चयतः परवस्तुनोऽकर्तृत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ॥ २३६ ॥

इसप्रकार 'कर्ता-कर्म और भोक्ता-भोग्य सम्बन्धी व्यवहार का निषेध'
 करने के बाद, अब दस गाथाओं और दो कलशों में 'ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्धी
 व्यवहार का भी निषेध' सोदाहरण स्पष्ट करते हैं -

(हरिगीत)

ज्यों कलई नहीं है अन्य की, यह कलई तो बस कलई है ।
 ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है ॥ ३५६ ॥
 ज्यों कलई नहीं है अन्य की, यह कलई तो बस कलई है ।
 दर्शक नहीं त्यों अन्य का, - दर्शक तो बस दर्शक ही है ॥ ३५७ ॥

(रथोद्धता)

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
 निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥ २१३ ॥
 यतु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किंचनापि परिणामिनः स्वयम् ।
 व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥ २१४ ॥

(गाथा)

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
 तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ॥ ३५६ ॥
 जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
 तह पासगो दु ण परस्स पासगो पासगो सो दु ॥ ३५७ ॥

ज्यों कलई नहीं है अन्य की, यह कलई तो बस कलई है।
 संयत नहीं त्यों अन्य का, संयत तो बस संयत ही है ॥ ३५८ ॥
 ज्यों कलई नहीं है अन्य की, यह कलई तो बस कलई है।
 दर्शन नहीं त्यों अन्य का, दर्शन तो बस दर्शन ही है ॥ ३५९ ॥
 यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक, कथन है परमार्थ का।
 अब सुनो! अतिसंक्षेप में तुम, कथन नय व्यवहार का ॥ ३६० ॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती, कलई स्वयं स्वभाव से।
 बस! त्योंहि ज्ञाता जानता, परद्रव्य को निजभाव से ॥ ३६१ ॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती, कलई स्वयं स्वभाव से।
 बस! त्योंहि दृष्टा देखता, परद्रव्य को निजभाव से ॥ ३६२ ॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती, कलई स्वयं स्वभाव से।
 बस त्योंहि ज्ञाता त्यागता, परद्रव्य को निजभाव से ॥ ३६३ ॥
 परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती, कलई स्वयं स्वभाव से।
 सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्य को निजभाव से ॥ ३६४ ॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
 तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु ॥ ३५८ ॥
 जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
 तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥ ३५९ ॥
 एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते।
 सुणु ववहारणयस्य य वत्तव्वं से समासेण ॥ ३६० ॥
 जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
 तह परदव्वं जाणदि णादा वि सएण भावेण ॥ ३६१ ॥
 जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
 तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सएण भावेण ॥ ३६२ ॥
 जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
 तह परदव्वं विजहदि णादा वि सएण भावेण ॥ ३६३ ॥
 जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
 तह परदव्वं सद्धदि सम्मादिट्ठी सहावेण ॥ ३६४ ॥

यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक, कथन है व्यवहार का ।
अर अन्य पर्यय विषय में भी, इसतरह ही जानना ॥ ३६५ ॥

(रोला)

एक द्रव्य में अन्य द्रव्य रहता हो - ऐसा;
भासित कभी नहीं होता है ज्ञानीजन को ॥
शुद्धभाव का उदय ज्ञेय का ज्ञान, न जाने ।
फिर भी क्यों अज्ञानीजन आकुल होते हैं? ॥ २१५ ॥
शुद्धद्रव्य का निजरसरूप परिणामन होता ।
वह पररूप या पर उसरूप नहीं हो सकते ॥
अरे! चाँदनी की ज्यों भूमि नहीं हो सकती ।
त्यों ही कभी नहीं हो सकते ज्ञेय ज्ञान के ॥ २१६ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञाता-ज्ञेय-व्यवहारनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.... ॥ २३७ ॥

अब, 'ज्ञान-ज्ञेय का भेद जानकर, राग-द्वेष का नाश करके पूर्ण ज्ञान-
मय होने की प्रेरणा देते हुए आगामी गाथाओं का सूचक कलश कहते हैं -

एवं व्यवहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिदो अणोसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥ ३६५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो,
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः,
किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥ २१५ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनार्त्तिकं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्सनारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि
ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥ २१६ ॥

(रोला)

तबतक राग-द्वेष होते हैं जबतक भाई!

ज्ञान-ज्ञेय का भेद ज्ञान में उदित नहीं हो ॥

ज्ञान-ज्ञेय का भेद समझकर राग-द्वेष को,

मेट पूर्णतः पूर्ण ज्ञानमय तुम हो जावो ॥ २१७ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञान-ज्ञेय-भेदज्ञानप्रेरक-श्रीज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्यं..... ॥२३८॥

अब, छह गाथाओं में यह कहते हैं कि 'मोह-राग-द्वेषादि विकारी भाव, न तो सम्यग्दृष्टि आत्माओं में हैं और न जड़ विषयों में हैं; वे तो अज्ञानदशा में रहनेवाले अज्ञानी जीव के परिणाम हैं' -

(हरिगीत)

ज्ञान-दर्शन-चरित ना, किंचित् अचेतन विषय में।

इसलिए यह आतमा क्या, कर सके उस विषय में? ॥ ३६६ ॥

ज्ञान-दर्शन-चरित ना, किंचित् अचेतन कर्म में।

इसलिए यह आतमा क्या, कर सके उस कर्म में? ॥ ३६७ ॥

ज्ञान-दर्शन-चरित ना, किंचित् अचेतन काय में।

इसलिए यह आतमा क्या, कर सके उस काय में? ॥ ३६८ ॥

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतत्र यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥ २१७ ॥

(गाथा)

दंसणणाणचरितं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए।

तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥ ३६६ ॥

दंसणणाणचरितं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।

तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि ॥ ३६७ ॥

दंसणणाणचरितं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काए।

तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु काएसु ॥ ३६८ ॥

सद्ज्ञान का, सम्यक्त्व का, उपघात चारित्र का कहा ।
 अन्य पुद्गलद्रव्य का ना, घात किंचित् भी कहा ? ॥ ३६९ ॥
 जीव के जो गुण कहे, वे हैं नहीं परद्रव्य में ।
 बस! इसलिए सद्वृष्टि को है, राग विषयों में नहीं ॥ ३७० ॥
 अनन्य हैं परिणाम जिय के, राग-द्वेष-विमोह ये ।
 बस! इसलिए शब्दादि विषयों, में नहीं रागादि ये ॥ ३७१ ॥

ॐ ह्रीं राग-द्वेष-मोहाः जीवस्याऽज्ञानमयपरिणामप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
 अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २३९ ॥

‘तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो राग-द्वेषादि भाव, अज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं, अतः उनका क्षय करने की प्रेरणा’ कलश द्वारा देते हैं -

(रोला)

यही ज्ञान अज्ञानभाव से राग-द्वेषमय ।
 हो जाता पर तत्त्वदृष्टि से वस्तु नहीं ये ॥
 तत्त्वदृष्टि के बल से क्षयकर इन भावों को ।
 हो जाती है अचल सहज यह ज्योति प्रकाशित ॥ २१८ ॥

ॐ ह्रीं तत्त्वदृष्ट्या राग-द्वेष-क्षपणप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.. ॥ २४० ॥

णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स ।
 ण वि तहिं पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्धिट्ठो ॥ ३६९ ॥
 जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
 तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ॥ ३७० ॥
 रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।
 एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी ॥ ३७१ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
 तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित् ।
 सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ
 ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥ २१८ ॥

अब, आगामी एक कलश और एक गाथा में यह कहते हैं कि 'राग-द्वेष आदि भावों का कर्ता, अन्य द्रव्य नहीं हो सकता' -

(रोला)

तत्त्वदृष्टि से राग-द्वेष भावों का भाई।

कर्ता-धर्ता कोई अन्य नहीं हो सकता ॥

क्योंकि है अत्यन्त प्रगट यह बात जगत् में।

द्रव्यों का उत्पाद स्वयं से ही होता है ॥ २१९ ॥

(हरिगीत)

गुणोत्पादन द्रव्य का, कोई अन्य द्रव्य नहीं करे।

क्योंकि सब ही द्रव्य निज-निज भाव से उत्पन्न हों ॥ ३७२ ॥

ॐ ह्रीं रागादीनामुत्पादकं परद्रव्यं नास्तीतिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ २४१ ॥

'जो रागादि की उत्पत्ति में परद्रव्यों का ही दोष देखते हैं, वे अज्ञानी मोह-नदी को पार नहीं करते'; यह बात आगामी दो कलशों में कहते हैं -

(रोला)

राग-द्वेष पैदा होते हैं इस आतम में।

उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है ॥

यह अज्ञानी अपराधी है इनका कर्ता।

यह अबोध हो नष्ट कि मैं तो स्वयं ज्ञान हूँ ॥ २२० ॥

(शालिनी)

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।

सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥ २१९ ॥

(गाथा)

अण्णदविण्ण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ।

तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥ ३७२ ॥

(मालिनी)

यदिह भवति रागद्वेषप्रसूतिः

कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।

स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधा

भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥ २२० ॥

अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को ।

एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी ॥

शुद्धबोध से विरहित वे अन्धे जन जग में ।

अरे! कभी भी मोहनदी से पार न होंगे ॥ २२१ ॥

ॐ ह्रीं रागाद्युत्पत्तौ परद्रव्यदूषण-निषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ २४२ ॥

अब, दश गाथाओं एवं एक कलश में 'परज्ञेयों को जानने व नहीं जानने,
इन दोनों स्थितियों में सहजता धारण करने की तर्कसहित प्रेरणा' देते हैं -

(हरिगीत)

स्तवन-निन्दारूप परिणत, पुद्गलों को श्रवण कर ।

मुझको कहे यह मान, तोष-रु-रोष अज्ञानी करें ॥ ३७३ ॥

शब्दत्व में परिणमित पुद्गलद्रव्य का गुण अन्य है ।

इसलिए तुम से ना कहा, तुष-रुष्ट होते अबुध क्यों? ॥ ३७४ ॥

शुभ या अशुभ ये शब्द, तुझसे ना कहें कि हमें सुन ।

अर आतमा भी कर्णगत, शब्दों के पीछे ना भगे ॥ ३७५ ॥

शुभ या अशुभ यह रूप तुझसे, ना कहे कि हमें लख ।

यह आतमा भी चक्षुगत, वर्णों के पीछे ना भगे ॥ ३७६ ॥

(रथोद्धता)

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।

उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ॥ २२१ ॥

(गाथा)

पिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमन्ति बहुगाणि ।

ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो ॥ ३७३ ॥

पोग्गलदक्वं सद्धत्त परिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो ।

तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुद्धो ॥ ३७४ ॥

असुहो सुहो व सद्धो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव ।

ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदविसयमागदं सद्धं ॥ ३७५ ॥

असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव ।

ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं ॥ ३७६ ॥

शुभ या अशुभ यह गन्ध, तुम सूँघो मुझे यह ना कहे।
 यह आतमा भी घ्राणगत, गन्धों के पीछे ना भगे ॥ ३७७ ॥

शुभ या अशुभ यह सरस रस, यह ना कहे कि हमें चख।
 यह आतमा भी जीभगत, स्वादों के पीछे ना भगे ॥ ३७८ ॥

शुभ या अशुभ स्पर्श, तुझसे ना कहें कि हमें छू।
 यह आतमा भी कायगत, स्पर्शों के पीछे ना भगे ॥ ३७९ ॥

शुभ या अशुभ गुण ना कहें, तुम हमें जानो आत्मन्!।
 यह आतमा भी बुद्धिगत, सुगुणों के पीछे ना भगे ॥ ३८० ॥

शुभ या अशुभ द्रव्य ना कहें, तुम हमें जानो आत्मन्!।
 यह आतमा भी बुद्धिगत, द्रव्यों के पीछे ना भगे ॥ ३८१ ॥

यह जानकर भी मूढ़जन, ना ग्रहें उपशमभाव को।
 मंगलमती को ना ग्रहें, पर के ग्रहण का मन करें ॥ ३८२ ॥

(रोला)

जैसे दीपक दीप्य वस्तुओं से अप्रभावित।
 वैसे ही ज्ञायक ज्ञेयों से विकृत न हो ॥

असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं ॥ ३७७ ॥

असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं ॥ ३७८ ॥

असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुससु मं ति सो चेव।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं ॥ ३७९ ॥

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ॥ ३८० ॥

असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं ॥ ३८१ ॥

एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
 णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥ ३८२ ॥

फिर भी अज्ञानीजन क्यों असहज होते हैं?।

न जाने क्यों व्याकुल हो विचलित होते हैं ॥ २२२ ॥

ॐ ह्रीं परज्ञेयप्रति-सहजज्ञातृत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं ... ॥ २४३ ॥

‘अपने स्वभाव का नित्य स्पर्श करनेवाले ज्ञानी, चारित्र के बल से कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतना से रहित होकर, ज्ञान-चेतना को प्राप्त होते हैं’, यह आगामी कलश में कहते हैं -

(रोला)

राग-द्वेष से रहित भूत-भावी कर्मों से ।

मुक्त स्वयं को वे नित ही अनुभव करते हैं ॥

और स्वयं में रत रह ज्ञानमयी चेतनता ।

को धारण कर निज में नित्य मगन रहते हैं ॥ २२३ ॥

ॐ ह्रीं कर्मचेतना-कर्मफलचेतना-रहित-ज्ञानचेतनाप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २४४ ॥

अब, आगामी चार गाथाओं में यह कहते हैं कि ‘भूत-भविष्य-वर्तमान काल सम्बन्धी शुभाशुभ भावों से निवृत्त होकर, अपने ज्ञान-स्वभाव में वर्तना ही निश्चय प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना व चारित्र है’ -

(हरिगीत)

शुभ-अशुभ कर्म अनेकविध हैं, जो किये गतकाल में ।

उनसे निवर्तन जो करे वह, आत्मा प्रतिक्रमण है ॥ ३८३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्णेकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिबोधवंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयी भवन्ति सहजां मुंचन्त्युदासीनताम् ॥ २२२ ॥
रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरा-रूढ-चरित्र-वैभव-बला-च्चंचच्चि-दर्चिमयीं
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥ २२३ ॥

(गाथा)

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणोयवित्थरविसेसं ।

तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥ ३८३ ॥

बँधेंगे जिस भाव से, शुभ-अशुभ कर्म भविष्य में।
 उससे निवर्तन जो करे, वह जीव प्रत्याख्यान है॥ ३८४ ॥
 शुभ-अशुभभाव अनेकविध, हो रहे सम्प्रति काल में।
 इस दोष का ज्ञाता रहे, वह जीव है आलोचना ॥ ३८५ ॥
 जो करें नित प्रतिक्रमण एवं, करें नित आलोचना।
 जो करें प्रत्याख्यान नित, चारित्र हैं वे आतमा ॥ ३८६ ॥

ॐ ह्रीं निश्चयप्रतिक्रमणादिस्वरूपप्रकाशक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य
 निर्वपामीति स्वाहा ॥ २४५ ॥

‘अज्ञान-चेतना बन्ध की कर्ता होने से हेय है, अतः ज्ञान-चेतना का ही
 अनुसरण करने की प्रेरणा’ इस कलश में दे रहे हैं -

(रोला)

ज्ञान-चेतना शुद्ध ज्ञान को करे प्रकाशित।
 शुद्ध ज्ञान को रोके नित अज्ञान-चेतना ॥
 और बन्ध की कर्ता यह अज्ञान-चेतना।
 यही जान, चेतो आतम नित ज्ञान-चेतना ॥ २२४ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञानचेतना-रहित-ज्ञानचेतनाप्रेरक-श्रीज्ञानज्योतिषे नमः अर्घ्य
 निर्वपामीति स्वाहा ॥ २४६ ॥

(गाथा)

कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
 तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा ॥ ३८४ ॥
 जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अपोयवित्थरविसेसं।
 तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा ॥ ३८५ ॥
 णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कम्मदि जो य।
 णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा ॥ ३८६ ॥

(उपजाति)

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं, प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
 अज्ञानसंचेतनया तु धावन्, बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥ २२४ ॥

अब, कहते हैं कि 'कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतना, अज्ञान-चेतना होने से हेय हैं -

(हरिगीत)

जो कर्मफल को वेदते, निजरूप मानें करमफल ।
हैं बाँधते वे जीव दुःख के बीज वसुविध करम को ॥ ३८७ ॥
जो कर्मफल को वेदते, मानें करमफल मैं किया ।
हैं बाँधते वे जीव दुःख के बीज वसुविध करम को ॥ ३८८ ॥
जो कर्मफल को वेदते हों, सुखी अथवा दुःखी हों ।
हैं बाँधते वे जीव दुःख के बीज वसुविध करम को ॥ ३८९ ॥

ॐ ह्रीं कर्मचेतना-कर्मफलचेतनायाः हेयत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ २४७ ॥

अब, 'भूत-वर्तमान-भविष्य के सभी कर्मों से संन्यास की भावना हेतु
निश्चयप्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानपूर्वक परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत
शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यमय आत्मा में ही रमण करने की भावना' पाँच कलशों में
भाते हैं -

(रोला)

भूत भविष्यत् वर्तमान के सभी कर्म कृत- ।
कारित अर अनुमोदनादि मैं सभी ओर से ॥
सबका कर परित्याग हृदय से वचन-काय से ।
अवलम्बन लेता हूँ परम निष्कर्मभाव से ॥ २२५ ॥

(गाथा)

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्टुविहं ॥ ३८७ ॥
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्टुविहं ॥ ३८८ ॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्टुविहं ॥ ३८९ ॥

(आर्या)

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्व परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥ २२५ ॥

मोहभाव से भूतकाल में कर्म किये जो ।
 उन सबका ही प्रतिक्रमण करके अब मैं तो ॥
 वर्त रहा हूँ अरे! निरन्तर स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥ २२६ ॥

मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो ।
 उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो ॥
 वर्त रहा हूँ अरे! निरन्तर स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥ २२७ ॥

नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं ।
 करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो ॥
 वर्त रहा हूँ अरे! निरन्तर स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥ २२८ ॥

तीन काल के सब कर्मों को छोड़ इसतरह ।
 परमशुद्धनिश्चयनय का अवलम्बन लेकर ॥
 निर्मोही हो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥ २२९ ॥

ॐ ह्रीं सकलकर्मसंन्यासहेतु-शुद्धबुद्धचैतन्याऽऽत्मावलम्बनप्रेरक-
 श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २४८ ॥

(आर्या)

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
 आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२६ ॥
 मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
 आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२७ ॥
 प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
 आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ २२८ ॥

(उपजाति)

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी ।
 विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ॥ २२९ ॥

अब, 'कर्मफल के संन्यास की भावना' चार कलशों में भाते हैं -

(रोला)

कर्म वृक्ष के विषफल मेरे बिन भोगे ही।
 खिर जायें बस! यही भावना भाता हूँ मैं ॥
 क्योंकि मैं तो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥ २३० ॥
 सब कर्मों के फल से संन्यासी होने से।
 आतम से अतिरिक्त प्रवृत्ति से निवृत्त होकर ॥
 चिद्लक्षण आतम को अतिशय भोग रहा हूँ।
 यह प्रवृत्ति ही बनी रहे बस! अमितकाल तक ॥ २३१ ॥

(वसन्ततिलका)

रे ! पूर्वभावकृत कर्म-जहर-तरु के।
 अज्ञानमय फल नहीं जो भोगते हैं ॥
 अर तृप्त स्वयं में चिरकाल तक वे।
 निष्कर्म सुखमय दशा को भोगते हैं ॥ २३२ ॥
 रे ! कर्मफल से संन्यास लेकर।
 सद्ज्ञान-चेतना को निज में नचाओ ॥

(आर्या)

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
 संचेतयेऽहमचलं, चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥ २३० ॥

(वसन्ततिलका)

निःशेषकर्मफलसंन्यसनात्मैवं सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
 चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वन्ता ॥ २३१ ॥
 यः पूर्वभावकृतकर्मविषदुमाणां भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
 आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥ २३२ ॥

प्याला पियो नित प्रशमरस का निरन्तर ।

सुख में रहो अभी से चिरकाल तक तुम ॥ २३३ ॥

ॐ ह्रीं सकलकर्मसंन्यासहेतु-ज्ञानचेतनाप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ २४९ ॥

अब, 'शुभाशुभक्रिया और शुभाशुभभावों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निषेध करके, कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतना से संन्यास की भावना करने के बाद, अब ज्ञेय पदार्थों से एकत्व-ममत्व का निषेध', एक कलश और पन्द्रह गाथाओं में करते हैं -

(दोहा)

अपने में ही मगन है, अचल अनाकुल ज्ञान ।

यद्यपि जाने ज्ञेय को, तदपि भिन्न ही जान ॥ २३४ ॥

(हरिगीत)

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि, शास्त्र कुछ जाने नहीं ।

बस इसलिए ही शास्त्र अन्य, रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९० ॥

शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि, शब्द कुछ जाने नहीं ।

बस इसलिए ही शब्द अन्य, रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९१ ॥

(स्रग्धरा)

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च

प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।

पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां

सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु ॥ २३३ ॥

(वंशस्थ)

इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।

समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥ २३४ ॥

(गाथा)

सत्थं पाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि ।

तम्हा अण्णं पाणं अण्णं सत्थं जिणा बेत्ति ॥ ३९० ॥

सद्धो पाणं ण हवदि जम्हा सद्धो ण याणदे किंचि ।

तम्हा अण्णं पाणं अण्णं सद्धं जिणा बेत्ति ॥ ३९१ ॥

रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि, रूप कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही रूप अन्य, रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९२ ॥
 वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि, वर्ण कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही वर्ण अन्य, रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९३ ॥
 गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि, गन्ध कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही गन्ध अन्य, रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९४ ॥
 रस नहीं है ज्ञान क्योंकि, रस भी कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही रस अन्य, रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९५ ॥
 स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि, स्पर्श कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही स्पर्श अन्य, रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९६ ॥
 कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि, कर्म कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही कर्म अन्य, रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९७ ॥
 धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि, धर्म कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही धर्म अन्य, रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९८ ॥

रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
 तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेति ॥ ३९२ ॥
 वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
 तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेति ॥ ३९३ ॥
 गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
 तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेति ॥ ३९४ ॥
 ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
 तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेति ॥ ३९५ ॥
 फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो य याणदे किंचि।
 तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेति ॥ ३९६ ॥
 कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।
 तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेति ॥ ३९७ ॥
 धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
 तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेति ॥ ३९८ ॥

अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि, अधर्म कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही अधर्मअन्य, रुज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ३९९ ॥
 काल ज्ञान नहीं है क्योंकि, काल कुछ जाने नहीं।
 बस इसलिए ही काल अन्य, रुज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ४०० ॥
 आकाश ज्ञान नहीं है क्योंकि, आकाश कुछ जाने नहीं।
 बस! इसलिए ही आकाश अन्य, रुज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ४०१ ॥
 अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि, वे अचेतन जिन कहे।
 इसलिए अध्यवसान अन्य रु, ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥ ४०२ ॥
 नित्य जाने जीव बस! इसलिए ज्ञायकभाव है।
 है ज्ञान अव्यतिरिक्त ज्ञायक भाव से यह जानना ॥ ४०३ ॥
 ज्ञान ही समदृष्टि संयम, सूत्र पूर्वगतांग भी।
 सद्धर्म और अधर्म दीक्षा, ज्ञान हैं - यह बुध कहें ॥ ४०४ ॥

ॐ ह्रीं सकलज्ञेयपदार्थ-भेदविज्ञानप्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ २५० ॥

‘आत्मा, त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति से सम्पन्न होने के कारण, वास्तव में पर का ग्रहण और त्याग तो करता ही नहीं है; अतः स्वयं में जमने-रमनेरूप शुद्धोपयोग ही निश्चय प्रतिक्रमणादि हैं’, ऐसा दो कलशों में कहते हैं -

णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाऽधम्मो ण याणदे किञ्चि।
 तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेत्ति ॥ ३९९ ॥
 कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किञ्चि।
 तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेत्ति ॥ ४०० ॥
 आयासं पि ण णाणं जम्हाऽऽयासं ण याणदे किञ्चि।
 तम्हाऽऽयासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेत्ति ॥ ४०१ ॥
 णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
 तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥ ४०२ ॥
 जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
 णाणं च जाणयादो अत्तदिरित्तं मुणेयत्वं ॥ ४०३ ॥
 णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुट्ठवगयं।
 धम्माधम्मं च तहा पट्ठवज्जं अब्भुवंति बुहा ॥ ४०४ ॥

(हरिगीत)

है अन्य द्रव्यों से पृथक्, विरहित ग्रहण अर त्याग से ।
यह ज्ञाननिधि निज में नियत, वस्तुत्व को धारण किये ॥
है आदि-अन्त विभाग-विरहित, विस्फुरित आनन्दघन ।
हो सहज महिमा प्रभाभास्वर, शुद्ध अनुपम ज्ञानघन ॥ २३५ ॥

जिनने समेटा स्वयं ही, सब शक्तियों को स्वयं में ।
सब ओर से धारण किया हो, स्वयं को ही स्वयं में ॥
मानो उन्हीं ने त्यागने के, योग्य जो वह तज दिया ।
अर जो ग्रहण के योग्य वह सब, भी उन्हीं ने पा लिया ॥ २३६ ॥

ॐ ह्रीं त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ २५१ ॥

अब, एक कलश और तीन गाथाओं में यह कहते हैं कि 'अमूर्तिक
आत्मा, पुद्गलमयी मूर्तिक आहार ग्रहण नहीं कर सकता है' -

(सोरठा)

ज्ञानस्वभावी जीव परद्रव्यों से भिन्न ही ।
कैसे कहें सदेह जब आहारक ही नहीं ॥ २३७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्जनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्त सहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥ २३५ ॥

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत् तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥ २३६ ॥

(अनुष्टुभ्)

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥ २३७ ॥

(हरिगीत)

आहार पुद्गलमयी है, बस! इसलिए है मूर्तिक ।
 ना अहारक इसलिए ही, यह अमूर्तिक आतमा ॥ ४०५ ॥
 परद्रव्य का ना ग्रहण हो, ना त्याग हो इस जीव के।
 क्योंकि प्रायोगिक तथा वैस्रसिक स्वयं गुण जीव के ॥ ४०६ ॥
 पर इसलिए शुद्धातमा यह, जीव और अजीव से।
 कुछ भी ग्रहण करता नहीं, कुछ भी नहीं है छोड़ता ॥ ४०७ ॥

ॐ ह्रीं आत्मनोऽनाहारकत्वप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्य... ॥ २५२ ॥

‘यदि ज्ञानस्वरूपी आत्मा के देह ही नहीं है, तो फिर नग्न दिगम्बर दशारूप द्रव्यलिंग भी आत्मा का कैसे हो सकता है?; अतः उसके बिना यद्यपि मोक्ष नहीं होता, तथापि सच्चा मुक्तिमार्ग तो निश्चय रत्नत्रयस्वरूप भावलिंग ही है,’ यह बात एक कलश और चार गाथाओं में कहते हैं -

(सोरठा)

शुद्धज्ञानमय जीव, के जब देह नहीं कही ।
 तब फिर यह द्रवलिंग, शिवमग कैसे हो सके ॥ २३८ ॥

(हरिगीत)

ग्रहण कर मुनिलिंग या, गृहिलिंग विविध प्रकार के।
 यह लिंग ही है मुक्तिमग, यह कहें कतिपय मूढ़जन ॥ ४०८ ॥

(गाथा)

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारगो हवदि एवं ।
 आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गलमओ दु ॥ ४०५ ॥
 ण वि सक्कदि घेतुं जं ण विमोत्तुं जं च जं परद्धव्वं ।
 सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥ ४०६ ॥
 तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गेणहदे किंचि ।
 णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥ ४०७ ॥

(अनुष्टुभ्)

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य, देह एव न विद्यते ।
 ततो देहमयं ज्ञातुः, न लिंगं मोक्षकारणम् ॥ २३८ ॥

(गाथा)

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
 घेतुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥ ४०८ ॥

पर मुक्तिमग ना लिंग क्योकि, लिंग तज अरिहंत जिन ।
 निज आत्म अरु सद्-ज्ञान-दर्शन-चरित का सेवन करें ॥ ४०९ ॥
 बस! इसलिए गृहिलिंग या मुनिलिंग ना मग-मुक्ति का ।
 जिनवर कहें बस ज्ञान-दर्शन-चरित ही मग-मुक्ति का ॥ ४१० ॥
 बस! इसलिए अनगार या, सागार लिंग को त्यागकर ।
 जुड़ जा स्वयं के ज्ञान-दर्शन-चरणमय शिवपन्थ में ॥ ४११ ॥

ॐ ह्रीं देहरूपद्रव्यलिंगं निषिध्य निश्चयरत्नत्रयस्वरूपभावलिंग एव मोक्षमार्ग-
 प्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २५३ ॥

अब, 'निश्चय रत्नत्रय ही सच्चा मोक्षमार्ग है, अतः उसी के सेवन की प्रेरणा' आगामी कलश और गाथा में देते हैं -

(दोहा)

मोक्षमार्ग बस एक ही, रत्नत्रयमय होय ।
 अतः मुमुक्षु के लिए, वह ही सेवन योग्य ॥ २३९ ॥

(हरिगीत)

मोक्षपथ में थाप निज को, चेतकर निज ध्यान धर ।
 निज में ही नित्य विहार कर, परद्रव्य में न विहार कर ॥ ४१२ ॥

ॐ ह्रीं निश्चयरत्नत्रयधारणाय प्रेरक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ २५४ ॥

ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
 लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवन्ति ॥ ४०९ ॥
 ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
 दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेत्ति ॥ ४१० ॥
 तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणागारएहिं वा गहिदे ।
 दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४११ ॥

(अनुष्टुभ)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
 एक एव सदा सेव्यो, मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ २३९ ॥

(गाथा)

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
 तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वसु ॥ ४१२ ॥

अब, 'समयसार को कौन प्राप्त करते हैं?' यह कलश द्वारा कहते हैं -

(हरिगीत)

दृग्-ज्ञानमय वृत्त्यात्मक यह, एक ही है मोक्षपथ ।
थित रहें, अनुभव करें अर, ध्यावें अहिर्निश जो पुरुष ॥
जो अन्य को न छुएँ अर, निज में विहार करें सतत ।
वे पुरुष तो अतिशीघ्र ही, समयसार पावें उदित ॥ २४० ॥

ॐ ह्रीं श्रीसमयसार-प्राप्त्युपायप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं.... ॥ २५५ ॥

अब, 'समय के सार को कौन नहीं प्राप्त कर सकते हैं?'- यह तीन कलशों और एक गाथा द्वारा कहते हैं -

(हरिगीत)

ग्रहण कर मुनिलिंग या, गृहिलिंग विविध प्रकार के ।
उनमें करें ममता, न जानें, वे समय के सार को ॥ ४१३ ॥

(हरिगीत)

जो पुरुष तज पूर्वोक्त पथ, व्यवहार में वर्तन करें ।
तर जायेंगे यह मानकर, द्रव्यलिंग में ममता धरें ॥
वे नहीं देखें आत्मा, निज अमल एक उद्योतमय ।
अर अखण्ड अभेद चिन्मय, अज अतुल आलोकमय ॥ २४१ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः;
तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्;
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥ २४० ॥

(गाथा)

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं ॥ ४१३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ये त्वेनं परिहत्य संवृत्तिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥ २४१ ॥

तुष माँहि मोहित जगज्जन ज्यों, एक तुष ही जानते ।
 वे मूढ तुष-संग्रह करें, तन्दुल नहीं पहिचानते ॥
 व्यवहार-मोहित मूढ त्यों, व्यवहार को ही जानते ।
 आनन्दमय सद्ज्ञानमय, परमार्थ नहीं पहिचानते ॥ २४२ ॥
 यद्यपी परद्रव्य है द्रवलिंग, फिर भी अज्ञजन ।
 बस! उसी में ममता धरें, द्रवलिंग मोहित अन्धजन ॥
 देखें नहीं, जाने नहीं, सुखमय समय के सार को ।
 बस! इसलिए ही अज्ञजन, पाते नहीं भवपार को ॥ २४३ ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारविमूढाणां समयसारप्राप्त्यभावप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः
 अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २५६ ॥

‘मुनि और श्रावक के भेद से दो प्रकार का लिंग, व्यवहार से ही मोक्षमार्ग
 कहा है, परमार्थ से नहीं,’ यह बात आगामी गाथा में कहते हैं -

(हरिगीत)

व्यवहार से ये लिंग दोनों, कहे मुक्तीमार्ग में ।
 परमार्थ से तो नहीं कोई, लिंग मुक्तीमार्ग में ॥ ४१४ ॥

ॐ ह्रीं व्यवहारद्रव्यलिंगनिषेधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ २५७ ॥

अब, आचार्य अमृतचन्द्रदेव, दो कलशों में ‘समयसार के अनुभव की
 महिमा का स्मरण’ करते हैं -

(हरिगीत)

क्या लाभ है ऐसे अनल्प, विकल्पों के जाल से ? ।
 बस! एक ही है बात यह, परमार्थ का अनुभव करो ॥

(वियोगिनी)

व्यवहारविमूढदृष्टयः, परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
 तुषबोधविमुग्धबुद्धयः, कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम् ॥ २४२ ॥

(स्वागता)

द्रव्यलिंग-ममकार-मीलितैः, दृश्यते समयसार एव न ।
 द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो, ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥ २४३ ॥

(गाथा)

ववहारिओपुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे ।
 णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ ॥

क्योंकि निज-रस-भरित परमानन्द के आधार से ।
कुछ भी नहीं है अधिक सुन लो, इस समय के सार से ॥ २४४ ॥
(दोहा)

ज्ञानानन्दस्वभाव को, करता हुआ प्रत्यक्ष ।

अरे! पूर्ण अब हो रहा, यह अक्षय जग-चक्षु ॥ २४५ ॥

ॐ ह्रीं समयसारमहिमाप्ररूपक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ २५८ ॥

अब, आचार्य कुन्दकुन्ददेव, ग्रन्थ को पूर्ण करते हुए 'समयसार के स्वाध्याय का फल' बताते हैं -

(हरिगीत)

पढ़ समयप्राभृत ग्रन्थ यह, तत्त्वार्थ से जो जानकर ।

निज अर्थ में एकाग्र हों वे, परमसुख को प्राप्त हों ॥ ४१५ ॥

ॐ ह्रीं अस्य ग्रन्थस्य स्वाध्यायफलरूपेण परमसुखप्ररूपक-श्रीसमयसाराय
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २५९ ॥

समयसार की इस अन्तिम गाथा के बाद आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं
कि 'इसप्रकार यह आत्मा, ज्ञानमात्र सिद्ध हुआ' -

(दोहा)

इसप्रकार यह आत्मा, अचल अबाधित एक ।

ज्ञानमात्र निश्चित हुआ, जो अखण्ड स्वसंवेद्य ॥ २४६ ॥

ॐ ह्रीं आत्मानं ज्ञानमात्रसाधक-श्रीसमयसाराय नमः अर्घ्यं... ॥ २६० ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(मालिनी)

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।

स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात्, नखलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥ २४४ ॥

(अनुष्टुभ्)

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।

विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥ २४५ ॥

(गाथा)

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं ।

अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्ख ॥ ४१५ ॥

(अनुष्टुभ्)

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।

अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥ २४६ ॥

जयमाला

(दोहा)

सर्वविशुद्धज्ञान की, महिमा अपरंपार ।
उसके आश्रय से प्रभो, खुले मुक्ति का द्वार ॥ १ ॥

(वीर)

ज्ञानपुंज यह शुद्धात्म ही सर्वविशुद्धज्ञानमय है ।
यह टंकोत्कीर्ण परमात्म अद्भुत अचल ध्यानमय है ॥
न कर्ता है न भोक्ता है न अन्यरूप से संबंधित ।
यह एक शुद्ध दृग ज्ञानमयी परिपूर्ण रूप में है अर्पित ॥ २ ॥

परमशुद्धनिश्चयनय से यह बात पूर्णतः सच्ची है ।
इसमें न संशय रंचमात्र यह बात पूर्णतः पक्की है ॥
साक्षात् शुद्धनिश्चयनय से नय कथन इस तरह आता है ।
अपने निर्मल परिणामों का कर्ता धर्ता यह आत्म है ॥ ३ ॥

राग-द्वेष परिणामों का कर्ता-भोक्ता भी आत्म है ।
ऐसा अशुद्धनिश्चय कहता रागी-द्वेषी यह आत्म है ॥
यह बातें सब निश्चयनय की जैनागम में ही आई हैं ।
इन स्याद्वादमय कथनों में ना कोई व्यर्थ बताई है ॥ ४ ॥

असद्भूत व्यवहार कहे इस ही आत्म के बारे में ।
घट पट परद्रव्यों का कर्ता भी कहते हैं परमागम में ॥
परमागम में अध्यात्मनयों की चर्चा पूरी आती है ।
निश्चय-व्यवहार भेद उनके उनकी भी बातें आती हैं ॥ ५ ॥

सब उपयोगी आवश्यक हैं वस्तुस्वरूप बतलाते हैं।
 भूले भटके भवि जीवों को वे मुक्तिमार्ग दिखलाते हैं।।
 शिवपथ में बढ़नेवालों को वे सभी काम में आते हैं।
 शोधी-खोजी भवि जीवों को शुद्धातम तक पहुँचाते हैं।। ६।।
 यद्यपि ये सभी सत्य ही हैं पर परमसत्य एक ही है।
 जिसके आश्रय से मुक्ति मिले वह परम सत्य एक ही है।।
 वह तो है केवल परमशुद्धनिश्चयनय जिसका नाम कहा।
 शुद्धातम को जो सदा अकर्ता ही कहता है रहा सदा।। ७।।
 है अनन्तगुणमय शुद्धातम आनन्द का स्थान भी है।
 शुद्धातम शुद्धज्ञान ही है अरु सर्वविशुद्धज्ञान भी है।।
 उसमें ही अपनापन हो तो समझो तुम सम्यग्ज्ञानी हो।
 जो रमे जमे उसमें उनको मुक्तिमार्ग मिलता ही है।। ८।।

(दोहा)

सर्वविशुद्धज्ञान में जमें रमें जो कोय ।
 उसे सहजश्रद्धान में तुरत परमपद होय ॥ ९ ॥
 शुद्धातम प्रतिपादिनी, पूर्ण हुई अविराम ।
 सर्वविशुद्ध अधिकार की, यह पूजन अभिराम ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं श्री सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपक-सर्वविशुद्धज्ञानाधिकाराय जयमाला पूर्णाघ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ।

अपना आत्मा ही महान है

इस जगत में सर्वोत्कृष्ट वस्तु वह निज भगवान आत्मा ही है, जिसके आश्रय से निश्चय-रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसे निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें जमने का नाम सम्यक्चारित्र है; वह त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा ही वास्तविक आत्मा है, अपने लिए अपने आत्मा से महान अन्य कुछ भी नहीं है।

- समयसार ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका, सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार, पृष्ठ ५६८

स्याद्वाद और उपाय-उपेयभाव^१ गर्भित परिशिष्ट पूजन

स्थापना

(रोला)

अनेकान्तमय^२ आत्म को इस समयसार में ।
 ज्ञानमात्र कहकर समझाया है गुरुवर ने ॥
 यह तो है एकान्त कथन - कुछ ऐसा कहते ।
 समझाया है उन्हें अरे इस परिशिष्ट में ॥

स्याद्वाद शैली में साधक-साध्य भाव को ।
 विविध नयों से समझाते हैं करुणा सागर ॥
 अनेकान्तमय इस अखण्ड निज परमात्म को ।
 खण्ड-खण्ड करके समझाते स्याद्वाद से ॥

साध्यभाव को मोक्ष और साधक भावों को ।
 मोक्षमार्ग कहते हैं जिनवर दिव्यध्वनि में ॥
 और मोक्षमग निश्चय रत्नत्रय को कहते ।
 रत्नत्रय की पूरणता परमार्थ मोक्ष है ॥

(दोहा)

महिमा आत्मराम की अद्भुत अपरंपार ।
 जो जाने वे भव्यजन होवें भव से पार ॥

ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्ट! अत्र अवतर-अवतर संवौषट् ।

ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्ट! अत्र तिष्ठ-तिष्ठ, ठः ठः ।

ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्ट! अत्र मम सन्निहितो भव-भव वषट् ।

१. उपाय-उपेयभाव को साधक-साध्यभाव भी कहते हैं ।

२. अनन्तगुणों वाले, अनन्तधर्मों वाले

(रोला)

जल

जैसे जग में जल को जीवन कहती दुनियाँ ।
 वैसे ही है ज्ञानभाव आतम का जीवन ॥
 है अनन्त गुणमय यह ज्ञानमयी परमातम ।
 जाने स्व-पर सभी को यह ज्ञानी परमातम ॥

ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय जन्मजरामृत्यु विनाशनाय जलं..।

चन्दन

है स्वभाव से शीतल चन्दन सब जग जाने ।
 आतम भी है परम शान्त शीतल समतामय ॥
 है अनन्त गुणमय यह ज्ञानमयी परमातम ।
 जाने स्व-पर सभी को यह ज्ञानी परमातम ॥

ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय संसारतापविनाशनाय चन्दनं..।

अक्षत

हैं अखण्ड अक्षत अविनाशी धवल निरंजन ।
 आतम भी अविनाशी एवं धवल निरंजन ॥
 है अनन्त गुणमय यह ज्ञानमयी परमातम ।
 जाने स्व-पर सभी को यह ज्ञानी परमातम ॥

ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं...।

पुष्प

सुमन सुगंधित सब जग को आकर्षित करते ।
 गंध रहित यह आतम जग को जाने-देखे ॥
 है अनन्त गुणमय यह ज्ञानमयी परमातम ।
 जाने स्व-पर सभी को यह ज्ञानी परमातम ॥

ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं...।

नैवेद्य

यह चरु सुन्दर सरस आत्म अनुभव के सम्मुख ।
 हो जाता है विरस अरस आतम के सम्मुख ॥
 है अनन्त गुणमय यह ज्ञानमयी परमातम ।
 जाने स्व-पर सभी को यह ज्ञानी परमातम ॥
 ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं ... ।

दीप

स्व-पर प्रकाशक दीपक तमहर होता जग में ।
 निज आतम भी स्व-परप्रकाशक होता निज में ॥
 है अनन्त गुणमय यह ज्ञानमयी परमातम ।
 जाने स्व-पर सभी को यह ज्ञानी परमातम ॥
 ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय मोहान्धकारविनाशनाय दीपं ... ।

धूप

परम सुगन्धित धूप अग्नि में स्वाहा होती ।
 यह परमातम कर्म पुंज को स्वाहा करता ॥
 है अनन्त गुणमय यह ज्ञानमयी परमातम ।
 जाने स्व-पर सभी को यह ज्ञानी परमातम ॥
 ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय अष्टकर्मदहनाय धूपं ... ।

फल

सरस सुगन्धित फल तो अबतक अफल रहे हैं ।
 एकमात्र आतम का अनुभव सफल रहा है ॥
 है अनन्त गुणमय यह ज्ञानमयी परमातम ।
 जाने स्व-पर सभी को यह ज्ञानी परमातम ॥
 ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय मोक्षफलप्राप्तये फलं ... ।

अर्घ्य

अर्घ्य चढ़ाया पर अनर्घ्य पद प्राप्त हुआ ना ।
 इसीलिये तो निज आतम का ध्यान लगाया ॥
 है अनन्त गुणमय यह ज्ञानमयी परमातम ।
 जाने स्व-पर सभी को यह ज्ञानी परमातम ॥
 ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं ... ।

अर्घ्यावली

॥ परिशिष्ट : स्याद्वाद अधिकार ॥

(दोहा)

वस्तु व्यवस्था तत्त्व की, भाव उपाय-उपेय ।
स्याद्वाद की सिद्धि को, थोड़ा-बहुत प्रमेय ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

टीका पूर्ण करने के उपरान्त अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव, ग्रन्थ की जो विशेष विषय-वस्तु परिशिष्ट में स्पष्ट करना चाहते हैं, उसकी सूचना कलश द्वारा देते हैं -

(कुण्डलिया)

यद्यपि सब कुछ आ गया, कुछ भी रहा न शेष ।
फिर भी इस परिशिष्ट में, सहज प्रमेय-विशेष ॥

सहज प्रमेय-विशेष, उपायोपेय भावमय ।

ज्ञानमात्र आतम, समझाते स्याद्वाद से ॥

परमव्यवस्था वस्तु-तत्त्व की प्रस्तुत करके ।

परमज्ञानमय परमातम का चिन्तन करते ॥ २४७ ॥

ॐ ह्रीं श्रीस्याद्वादान्तर्गत-उपाय-उपेयभावप्रकाशक-आत्मख्यातये नमः अर्घ्यं
निर्वपामीति स्वाहा ॥ २६१ ॥

अब, आत्मख्याति के परिशिष्ट के रूप में स्याद्वादाधिकार में 'आत्मवस्तु को ज्ञानमात्र कहने पर भी स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है - यह तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि भंगों से सिद्ध करते हैं; इनमें सर्वप्रथम तत्-अतत् सम्बन्धी अनेकान्त के सूचक दो कलश कहते हैं' -

(अनुष्टुभ)

अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थं, वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।

उपायोपेयभावश्च, मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥ २४७ ॥

(हरिगीत)

बाह्यार्थ ने ही पी लिया, निज-व्यक्तता से रिक्त जो।
वह ज्ञान तो सम्पूर्णतः, पररूप में विश्रान्त है ॥
पर से विमुख हो स्वोन्मुख, सद्ज्ञानियों का ज्ञान तो।
'स्वरूप से ही ज्ञान है' - इस मान्यता से पुष्ट है ॥ २४८ ॥
इस ज्ञान में जो झलकता, वह विश्व ही बस ज्ञान है।
अबुध ऐसा मानकर, स्वच्छन्द हो वर्तन करें ॥
अर विश्व को जो जानकर भी, विश्वमय होते नहीं।
वे स्याद्वादी जगत् में, निजतत्त्व का अनुभव करें ॥ २४९ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञान-ज्ञेययोः तत्-अतत्सम्बन्धि-स्याद्वादप्रकाशक-श्रीआत्मख्यातये
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २६२ ॥

अब, 'आत्मवस्तु में अनेकान्तस्वरूप के अन्तर्गत एक-अनेक सम्बन्धी
स्याद्वाद' को दो कलशों में स्पष्ट करते हैं -

(हरिगीत)

छिन-भिन्न हो चहुँ ओर से, बाह्यार्थ के परिग्रहण से।
खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होता, स्वयं अज्ञानी पशु ॥
एकत्व के परिज्ञान से, भ्रम-भेद जो परित्याग दें।
वे स्याद्वादी जगत् में, एकत्व का अनुभव करें ॥ २५० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झित-निज-प्रव्यक्तिरिक्ती-भवद्;
विश्रान्तं पररूप एव परितो, ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तदिह स्वरूपत इति, स्याद्वादिनस्तत्पुन-;
दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥ २४८ ॥
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं, दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया;
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव, स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्त्परूपतो न तदिति, स्याद्वाददर्शी पुन-;
विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥ २४९ ॥
बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसत्;
ज्ञेयाकार-विशीर्ण-शक्तिरभितस्त्रुट्यन्पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्;
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित् ॥ २५० ॥

जो मैल ज्ञेयाकार का, धो डालने के भाव से ।
स्वीकृत करें एकत्व को, एकान्त से वे नष्ट हों ॥
अनेकत्व को जो जानकर भी, एकता छोड़े नहीं ।
वे स्याद्वादी स्वतःक्षालित, तत्त्व का अनुभव करें ॥ २५१ ॥

ॐ ह्रीं श्रीज्ञान-ज्ञेययोः एक-अनेकसम्बन्धि-स्याद्वादप्ररूपक-श्रीआत्मख्यातये
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २६३ ॥

अब, 'अनेकान्तस्वरूप के अन्तर्गत सत्-असत् के स्वद्रव्य-परद्रव्य
सम्बन्धी स्याद्वाद' को दो कलशों में कहते हैं -

(हरिगीत)

इन्द्रियों से जो दिखे, ऐसे तनादि पदार्थ में ।
एकत्व कर हों नष्ट जन, निजद्रव्य को देखें नहीं ॥
निजद्रव्य को जो देखकर, निजद्रव्य में ही रत रहें ।
वे स्याद्वादी ज्ञान से, परिपूर्ण हो जीवित रहें ॥ २५२ ॥
सब द्रव्यमय निज आत्मा, यह जगत् की दुर्वासना ।
बस! रत रहें परद्रव्य में, स्वद्रव्य के भ्रम-बोध से ॥
परद्रव्य के नास्तित्व को, स्वीकार कर सब द्रव्य में ।
निजज्ञान बल से स्याद्वादी, रत रहें निजद्रव्य में ॥ २५३ ॥

ॐ ह्रीं श्रीस्वद्रव्येणाऽस्तित्व-परद्रव्येणनास्तित्व-सम्बन्धि-स्याद्वादप्ररूपक-
श्रीआत्मख्यातये नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २६४ ॥

ज्ञेयाकारकलंकमेचकमिति, प्रक्षालनं कल्पयन्;
नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतःक्षालितं;
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ॥ २५१ ॥

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तित्वावंचितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥ २५२ ॥

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तित्वां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥ २५३ ॥

अब, 'सत्-असत् के स्वक्षेत्र-परक्षेत्र सम्बन्धी स्याद्वाद' को आगे दो कलशों में बताते हैं -

(हरिगीत)

परक्षेत्रव्यापी ज्ञेय-ज्ञायक, आतमा परक्षेत्रमय ।
 - यह मानकर निजक्षेत्र का, अपलाप करते अज्ञजन ॥
 जो जानकर परक्षेत्र को, परक्षेत्रमय होते नहीं ।
 वे स्याद्वादी निजरसी, निजक्षेत्र में जीवित रहें ॥ २५४ ॥
 मैं ही रहूँ निजक्षेत्र में, इस भाव से परक्षेत्रगत ।
 जो ज्ञेय उनके साथ, ज्ञायकभाव भी परित्याग कर ॥
 हों तुच्छता को प्राप्त शठ, पर ज्ञानिजन परक्षेत्रगत ।
 रे! छोड़कर सब ज्ञेय वे, निजक्षेत्र को छोड़े नहीं ॥ २५५ ॥

ॐ ह्रीं श्रीस्वक्षेत्रेणास्तित्व-परक्षेत्रेण-नास्तित्वसम्बन्धि-स्याद्वादप्ररूपक-
 श्रीआत्मख्यातये नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥२६५॥

अब, 'सत्-असत् के स्वकाल-परकाल सम्बन्धी स्याद्वाद' को आगे दो कलशों में स्पष्ट करते हैं - (हरिगीत)

निजज्ञान के अज्ञान से, गतकाल में जाने गये ।
 जो ज्ञेय उनके नाश से, निज नाश माने अज्ञजन ॥
 नष्ट हों परज्ञेय पर, ज्ञायक सदा कायम रहे ।
 निजकाल से अस्तित्व है - यह जानते हैं विज्ञजन ॥ २५६ ॥

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
 सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः ।
 स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
 स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥२५४॥

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
 तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ।
 स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
 त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥२५५॥

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
 सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः ।
 अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
 पूर्णास्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५६॥

अर्थालम्बनकाल में ही, ज्ञान का अस्तित्व है ।
 यह मानकर परज्ञेयलोभी, लोक में आकुल रहें ॥
 परकाल से नास्तित्व लखकर, स्याद्वादी विज्ञजन ।
 ज्ञानमय आनन्दमय, निज आतमा में दृढ़ रहें ॥ २५७ ॥

ॐ ह्रीं श्रीस्वकालेनास्तित्व-परकालेनास्तित्व-सम्बन्धि-स्याद्वादप्ररूपका-
 श्रीआत्मख्यातये नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २६६ ॥

अब, 'सत्-असत् के स्वभाव-परभाव सम्बन्धी स्याद्वाद' का निरूपण आगे
 दो कलशों में करते हैं - (हरिगीत)

परभाव से निजभाव का, अस्तित्व माने अज्ञजन ।
 पर में रमें जग में भ्रमे, निज आतमा को भूलकर ॥
 पर भिन्न हो परभाव से, ज्ञानी रमे निजभाव में ।
 बस! इसलिए इस लोक में, वे सदा ही जीवित रहें ॥ २५८ ॥
 सब ज्ञेय ही हैं आतमा, यह मानकर स्वच्छन्द हो ।
 परभाव में ही नित रमें, बस! इसलिए ही नष्ट हों ॥
 पर स्याद्वादी तो सदा, आरूढ़ हैं निजभाव में ।
 विरहित सदा परभाव से, विलसें सदा निष्कम्प हो ॥ २५९ ॥

ॐ ह्रीं श्रीस्वभावेनास्तित्व-परभावेन नास्तित्वसम्बन्धि-स्याद्वादप्ररूपक-
 श्रीआत्मख्यातये नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २६७ ॥

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
 ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
 नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
 स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥ २५७ ॥

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
 नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः ।
 सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
 स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥ २५८ ॥

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
 सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
 स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
 दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः ॥ २५९ ॥

अब, अन्त में 'नित्य-अनित्य सम्बन्धी स्याद्वाद' के दो कलश कहते हैं -
(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय के रूप में, बहते हुए परिणाम लख ।
क्षणभंग के पड़ संग निज का, नाश करते अज्ञजन ॥
चैतन्यमय निज आतमा, क्षणभंग है पर नित्य भी -
यह जानकर जीवित रहें, नित स्याद्वादी विज्ञजन ॥ २६० ॥
है बोध जो टंकोत्कीर्ण, विशुद्ध उसकी आश से ।
चिद्परिणति निर्मल उछलती, से सतत इन्कार कर ॥
अज्ञजन हों नष्ट किन्तु, स्याद्वादी विज्ञजन ।
अनित्यता में व्याप्त होकर, नित्य का अनुभव करें ॥ २६१ ॥

ॐ ह्रीं श्री आत्मनः नित्याऽनित्यत्वसम्बन्धि-स्याद्वादप्ररूपक-श्रीआत्मख्यातये
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २६८ ॥

स्याद्वाद-प्रकरण के अन्त में आचार्यदेव, दो कलश लिखते हैं -
(दोहा)

मूढ़जनों को इसतरह ज्ञानमात्र समझाय ।
अनेकान्त अनुभूति में उतरा आतमराय ॥ २६२ ॥
अनेकान्त जिनदेव का शासन रहा अलंघ्य ।
वस्तुव्यवस्था थापकर थापित स्वयं प्रसिद्ध ॥ २६३ ॥

ॐ ह्रीं श्रीज्ञानमात्रात्मनः अनेकान्तात्मकत्वप्रकाशक-श्रीआत्मख्यातये नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २६९ ॥

प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित-वहज्ज्ञानांश-नानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिम ज्ञानं भवन् जीवति ॥ २६० ॥
टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
दाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन् ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥ २६१ ॥

(अनुष्टुभ्)

इत्यज्ञानविमूढानां, ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः, स्वयमेवानुभूयते ॥ २६२ ॥
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या, स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।
अलंघ्यं शासनं जैन-मनेकान्तो व्यवस्थितः ॥ २६३ ॥

इसके बाद परिशिष्ट में सैंतालीस शक्तियों की चर्चा की गई है, उसके उपरान्त उपसंहार में लिखे दो कलश इसप्रकार हैं -

(रोला)

इत्यादिक अनेक शक्ति से भरी हुई है ।
 फिर भी ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ती ॥
 और क्रमाक्रमभावों से जो मेचक होकर ।
 द्रव्य और पर्यायमयी चिद्वस्तु लोक में ॥ २६४ ॥
 अनेकान्त की दिव्यदृष्टि से स्वयं देखते ।
 वस्तुतत्त्व की उक्त व्यवस्था अरे सन्तजन ॥
 स्याद्वाद की अधिकाधिक शुद्धि को लख अर ।
 नहीं लांघकर जिननीति को ज्ञानी होते ॥ २६५ ॥

ॐ ह्रीं श्रीस्याद्वादमयी-जिननीतिप्ररूपक-श्रीआत्मख्यातये नमः अर्घ्य... ॥ २७० ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

॥ उपाय-उपेय अधिकार ॥

(दोहा)

परम शान्त सुखमय दशा, कही जिनागम मोक्ष ।
 रत्नत्रय की साधना, ही उपाय है मोक्ष ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

‘ज्ञानात्मक आत्मा में ही उपायभाव अर्थात् साधकभाव तथा उपेयभाव अर्थात् साध्यभाव घटित होते हैं’, यह तीन कलशों में कहते हैं -

(वसन्ततिलका)

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि, यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।
 एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं, तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥ २६४ ॥
 नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः ।
 स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो, ज्ञानी भवंति जिननीतिमलंघयन्तः ॥ २६५ ॥

(वसन्ततिलका)

रे! ज्ञानमात्र निज भाव अकम्पभूमि ।
को प्राप्त करते जो अपनीतमोही ॥
साधकपने को पा वे सिद्ध होते ।
अर अज्ञ इसके बिना परिभ्रमण करते ॥ २६६ ॥

स्याद्वादकौशल तथा संयम सुनिश्चिल ।
से ही सदा जो निज में जमे हैं ॥
वे ज्ञान एवं क्रिया की मित्रता से ।
सुपात्र हो पाते भूमिका को ॥ २६७ ॥

उदितप्रभा से जो सुप्रभात करता ।
चित्पिण्ड जो है खिला निज रमणता से ॥
जो अस्खलित है आनन्दमय वह ।
होता उदित अद्भुत अचल आतम ॥ २६८ ॥

ॐ ह्रीं श्रीज्ञानमात्राऽऽत्मनः साध्य-साधकभावप्ररूपक-आत्मख्यातये नमः
अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २७१ ॥

इसप्रकार 'स्याद्वाद के माध्यम से शुद्धस्वभाव की महिमा उदित होने पर,
अन्य भावों से कोई प्रयोजन नहीं रहता है, अतः मैं चिन्मात्र एक अखण्ड
स्वरूप ही हूँ', यह बात दो कलशों में कहते हैं -

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां, भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा, मूढास्त्वममनुपलभ्य परिभ्रमंति ॥ २६६ ॥
स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां, यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री, पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ २६७ ॥
चित्पिण्डचंडिमविलासिविकासहासः शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः ।
आनंद-सुस्थित-सदास्खलितैक-रूप-स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ २६८ ॥

(वसन्ततिलका)

महिमा उदित शुद्धस्वभाव की नित ।
 स्याद्वाददीपित लसत् सद्ज्ञान में जब ॥
 तब बन्ध-मोक्ष मग में आपतित भावों ।
 से क्या प्रयोजन है तुम ही बताओ ॥ २६९ ॥

निज शक्तियों का समुदाय आतम ।
 विनष्ट होता नयदृष्टियों से ॥
 खण्ड-खण्ड होकर खण्डित नहीं मैं ।
 एकान्त शान्त चिन्मात्र अखण्ड हूँ मैं ॥ २७० ॥

ॐ ह्रीं श्रीस्याद्वादमहिमोदितचिन्मात्र-अखण्डाऽऽत्मस्वरूपप्रकाशक-
 श्रीआत्मख्यातये नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २७२ ॥

अब, आगामी कलश में कहते हैं कि 'आत्मा, परज्ञेयों का ज्ञान करने
 वाला मात्र ही नहीं है; वह ज्ञान भी है, ज्ञेय भी है और ज्ञाता भी है' -

(रोला)

परज्ञेयों के ज्ञानमात्र मैं नहीं जिनेश्वर ।
 मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ निश्चित जानो ॥
 ज्ञेयों के आकार ज्ञान की कल्लोलों से ।
 परिणत ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तुमात्र हूँ ॥ २७१ ॥

ॐ ह्रीं श्रीआत्मनः ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयस्वरूपप्रकाशक-श्रीआत्मख्यातये नमः
 अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २७३ ॥

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
 किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावैर्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ २६९ ॥
 चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा, सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः ।
 तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेकमेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ २७० ॥

(शालिनी)

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि, ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
 ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गुन्, ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥ २७१ ॥

अब, तीन कलशों में 'आत्मा का अद्भुत अनेकान्तात्मक वैभव' प्रदर्शित करते हैं - (रोला)

अरे! 'अमेचक' कभी कभी यह 'मेचक' दिखता।
 कभी 'मेचकामेचक' यह दिखलाई देता॥
 अनन्त शक्तियों का समूह यह आतम फिर भी।
 दृष्टिवन्त को भ्रमित नहीं होने देता है ॥ २७२ ॥
 एक ओर से 'एक' स्वयं में 'सीमित' अर 'ध्रुव'।
 अन्य ओर से 'नेक' 'क्षणिक' 'विस्तारमयी' है॥
 अहो! आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो।
 जिसे देखकर चकित जगज्जन ज्ञानी होते॥ २७३ ॥
 एक ओर से 'शान्त' 'मुक्त' 'चिन्मात्र' दीखता।
 अन्य ओर से 'भव-भव पीड़ित' 'राग-द्वेषमय' ॥
 'तीन लोकमय' भासित होता विविध नयों से।
 अहो! आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो ॥ २७४ ॥

ॐ ह्रीं श्री आत्मनः अद्भुत-अनेकान्तात्मक-वैभवप्रकाशक-श्रीआत्मख्यातये
 नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २७४ ॥

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं;
 क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
 तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः;
 परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥ २७२ ॥
 इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
 मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
 इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
 रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥ २७३ ॥
 कषायकलिरेकतः सखलति शान्तिरस्त्येकतो;
 भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
 जगत्त्रियमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः;
 स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुताद्भुतः ॥ २७४ ॥

अन्त में, आचार्य आशीर्वादात्मक दो कलशों के माध्यम से 'आत्म-ज्योति के जयवन्त वर्तने की मंगल कामना' करते हैं -

(सोरठा)

झलकें तीनों लोक, सहज तेज के पुंज में ।
यद्यपि एकस्वरूप, तदपि भेद दिखाई दें ॥
सहज तत्त्व उपलब्धि, निजरस के विस्तार से ।
नियत ज्योति चैतन्य-चमत्कार जयवन्त है ॥ २७५ ॥

(दोहा)

मोह रहित निर्मल सदा, अप्रतिपक्षी एक ।
अचल चेतनारूप में, मग्न रहे स्वयमेव ॥
परिपूरण आनन्दमय, अर अद्भुत उद्योत ।
सदा उदित चहुँ ओर से, अमृतचन्द्र-ज्योति ॥ २७६ ॥

ॐ ह्रीं श्रीचैतन्यचमत्कार-अमृतचन्द्रज्योतिस्वरूपात्मप्रकाशक-आत्मख्यातये
नमः अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २७५ ॥

'जीव, अनादि से कैसा था और आत्मानुभूति होने पर कैसा हो जाता है?' यह आगामी कलश में कहते हैं -

(मालिनी)

जयति सहजतेजःपुंजमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरस-विसर-पूर्णाच्छिन्न-तत्त्वो लंभः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥ २७५ ॥
अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितम मृतचंद्र ज्योति रेतत्समंता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्ण निःसपत्नस्वभावम् ॥ २७६ ॥

(हरिगीत)

गतकाल में अज्ञान से, एकत्व पर से जब हुआ ।
फलरूप में रस-राग अर, कर्तृत्व पर में तब हुआ ॥
उस क्रियाफल को भोगती, अनुभूति मैली हो गई ।
किन्तु अब सद्ज्ञान से सब, मलिनता लय हो गई ॥ २७७ ॥

ॐ ह्रीं अज्ञान-आत्मज्ञानयोः द्वयोः फलप्ररूपक-श्रीआत्मख्यातये नमः अर्घ्यं.. ॥ २७६ ॥

अब, अधिकार के अन्त में 'आचार्य अमृतचन्द्र टीका के कर्तृत्व के सम्बन्ध में वस्तु-स्थिति स्पष्ट करते हुए अपना अकर्तृत्व प्रकाशित करते हैं' -

(हरिगीत)

ज्यों शब्द अपनी शक्ति से ही, तत्त्व प्रतिपादन करें ।
त्यों समय की यह व्याख्या भी, उन्हीं शब्दों ने करी ॥
निजरूप में ही गुप्त अमृतचन्द्र श्री आचार्य का ।
इस आत्मख्याति में अरे! कुछ भी नहीं कर्तृत्व है ॥ २७८ ॥

ॐ ह्रीं व्याख्यायाः अकर्तृत्वप्रकाशक-श्रीआत्मख्यातये नमः अर्घ्यं निर्वपामीति
स्वाहा ॥ २७७ ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

(शार्दूलविक्रीडित)

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
भुंजाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ॥ २७७ ॥

(उपजाति)

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥ २७८ ॥

जयमाला

(दोहा)

यह परिशिष्ट विशिष्ट है, स्याद्वाद के द्वार ।
वस्तुव्यवस्था तत्त्व की, प्रगट दिखावन हार ॥ १ ॥

(रोला)

सबसे पहले स्याद्वाद को गद्य-पद्य में ।
चौदह भंगों द्वारा ही स्पष्ट किया है ॥
फिर इन चौदह भंगों का भी अति सुन्दरतम ।
एवं अनुपम विशद विवेचन किया गया है ॥ २ ॥

अनन्त गुणों के गोडाउन इस आत्मतत्त्व को ।
ज्ञानमात्र कहकर समझाया विविध नयों से ॥
अनन्त शक्तियों के संग्रहालय इस आत्म की ।
सैंतालीस शक्तियों का स्वरूप समझाया ॥ ३ ॥

सभी जीव जीते हैं बस जीवत्व शक्ति से ।
वे सब चेतन होते हैं बस चितिशक्ति से ॥
दृशि-ज्ञान शक्ति से वे सब देखें-जानें ।
और सुखी होवें सुख शक्ति के प्रभाव से ॥ ४ ॥

वीर्यशक्ति से होते हैं वे शक्तिमान सब ।
प्रभु शक्ति से सब प्रभावशाली होते हैं ॥
विभु शक्ति से सभी गुणों में व्यापक होते ।
इसप्रकार वे सब वैभवशाली होते हैं ॥ ५ ॥

सर्वदर्शि-सर्वज्ञ शक्ति से सब द्रव्यों को ।
देखें-जानें सब झलकें स्वच्छत्व शक्ति में ॥
अपना आत्म झलके अपने ही आत्म में ।
यह प्रभाव होता है रे! प्रकाश शक्ति का ॥ ६ ॥

निज विकास में कोई भी संकोच नहीं हो ।
 यह प्रभाव है असंकुचित विकास शक्ति का ॥
 नहीं किसी का कारण हो न कार्य किसी का ।
 यह अकार्य कारण शक्ति का ही कमाल है ॥ ७ ॥
 पर को जाने, जाना जाता पर के द्वारा ।
 स्व को जानें, स्व के द्वारा जाना जाता ॥
 जिस शक्ति के कारण ऐसा होता रहता ।
 उसे परिणाम्य-परिणामकत्व शक्ति कहते हैं ॥ ८ ॥
 नहीं किसी का ग्रहण-त्याग कर सकता आतम ।
 इस शक्ति को त्यागोपादानशून्य कहते हैं ॥
 जिस शक्ति के कारण षट्गुणी हानि-वृद्धि हो ।
 उस शक्ति को अगुरुलघुत्व शक्ति कहते हैं ॥ ९ ॥
 उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय टिके रहें नित जिसके कारण ।
 वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी आतम शक्ति है ॥
 विरुद्ध और अविरुद्धभाव नित टिके रहे सब ।
 वह परिणाम शक्ति कहलाती है आगम में ॥ १० ॥
 जिसके कारण यह आतम अमूर्त्त रहता है ।
 वह अमूर्त्तशक्ति कहलाती परमागम में ॥
 जिसके कारण रागभाव का कर्त्ता न हो ।
 उस शक्ति को अकर्त्तृत्व शक्ति कहते हैं ॥ ११ ॥
 जिस शक्ति के कारण राग का भोक्ता न हो ।
 उस शक्ति को अभोक्तृत्व शक्ति कहते हैं ॥
 आतमप्रदेश में कंपन न हो जिसके कारण ।
 उस शक्ति को निष्क्रियत्व शक्ति कहते हैं ॥ १२ ॥

जिसके कारण नियत प्रदेशों में रहता है ।
 उसको नियतप्रदेशत्व शक्ति कहते हैं ॥
 जिसके कारण अपने धर्मों में ही व्यापे ।
 उसको स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति कहते हैं ॥ १३ ॥

जिस शक्ति के कारण रे! सामान्यगुण सभी ।
 अर विशेषगुण भी होते हैं सभी निरापद ॥
 अर सामान्य-विशेष सभी पाये जाते हैं ।
 वह साधारण-असाधारण उभयरूप है^१ ॥ १४ ॥

अनन्तधर्म इकसाथ रहे बस जिसके कारण ।
 वह अनन्त धर्मत्व शक्ति बस कहलाती है ॥
 और परस्पर विरुद्ध धर्म जिस कारण रहते ।
 रे! विरुद्धधर्मत्व शक्ति बस उसको कहते ॥ १५ ॥

जिस शक्ति के कारण हो अनन्त शक्तिमय ।
 उस शक्ति को अरे तत्त्व शक्ति कहते हैं ॥
 जिस शक्ति के कारण यह पर रूप नहीं हो ।
 उस शक्ति को अरे अतत्त्व शक्ति कहते हैं ॥ १६ ॥

जिस शक्ति के कारण अनेक निज पर्यायों में ।
 व्यापक होकर भी एकत्व नहीं छोड़ता ॥
 वह एकत्वशक्ति कहलाती है इस जग में ।
 इसके कारण जिय की एकता कायम रहती ॥ १७ ॥

१. साधारण अर्थात् अस्तित्व आदि सामान्यगुण, असाधारण अर्थात् ज्ञानादि विशेष गुण और जो पाँच अजीव द्रव्यों में रहने से सामान्य और सभी छह द्रव्यों में न रहने से विशेष धर्म कहलाते हैं, ऐसे अमूर्तत्व आदि उभयरूप गुण साधारण-असाधारण कहे जाते हैं ।

एक द्रव्यमय होने पर भी यह परमात्म ।
 अरे बदलता रहता है निज पर्यायों में ॥
 यह होता है इसमें अनेकत्व शक्ति से ।
 इस परमात्म का ऐसा अद्भुत स्वभाव है ॥ १८ ॥

जिसके कारण एक अवस्था वर्तमान में ।
 होती ही है उसे भाव शक्ति कहते हैं ॥
 उसे छोड़कर अन्य न कोई होय अवस्था ।
 जिसके कारण उसे अभाव शक्ति कहते हैं ॥ १९ ॥

जो पर्याय अभी है उसका अगले क्षण में ।
 भावाभाव शक्ति से ही तो व्यय होता है ॥
 विद्यमान जो अभी नहीं है उसका होना ।
 जिससे होता वह अभावभाव शक्ति है ॥ २० ॥

होने योग्य के होनेरूप से जो होती है ।
 उसको कहते भावभाव शक्ति आगम में ॥
 नहीं होने के योग्य नहीं होगी जो पर्यय ।
 वह अभाव-अभाव शक्ति का ही कमाल है ॥ २१ ॥

कारक से निरपेक्ष मात्र जो भवन रूप है ।
 भावशक्ति अद्भुत अनुपम ध्रुव परमधर्म है ॥
 कारक के अनुसार परिणमन करने वाली ।
 क्रिया शक्ति भी निज आत्म का ही स्वभाव है ॥ २२ ॥

कर्म शक्ति के कारण निर्मल परिणामों को ।
 प्राप्त करें यह स्वयं स्वयं में तन्मय होकर ॥
 कर्तृत्व शक्ति के कारण निर्मल परिणामों का ।
 कर्त्ता होवे स्वयं सदा स्वाधीन भाव से ॥ २३ ॥

करण शक्ति के कारण निर्मल परिणामों का ।
 साधकतम कारण है इसलिये स्वयं करण है ॥
 सम्प्रदान शक्ति से आतम स्वयं स्वयं को ।
 सम्यग्दर्शन आदि शुद्धभावों को देता ॥ २४ ॥

अपादान शक्ति के कारण वह रत्नत्रय ।
 अरे निरन्तर स्वयं स्वयं में से आता है ॥
 और अधिकरण शक्ति से ही यह निज आतम ।
 बनता है आधार मुक्तिमार्ग का भाई ॥ २५ ॥

सम्बन्ध शक्ति यह बतलाती है कोई किसी का ।
 कोई नहीं है सब अपने-अपने स्वामी हैं ॥
 नहीं आतमा का कोई है इस जगती में ।
 और आतमा भी तो नहीं है और किसी का ॥ २६ ॥

सभी आतमा हैं अनन्त शक्ति के स्वामी ।
 हैं स्वभाव से परिपूरण भगवान आतमा ॥
 साधक और साध्यभाव सब हैं अपने में ।
 अपने में ही समा जाँय बस यही भावना ॥ २७ ॥

ॐ ह्रीं श्री स्याद्वाद-उपायोपेयगर्भित-परिशिष्टाय जयमाला पूणार्घ्यं
 निर्वपामीति स्वाहा ।

(दोहा)

अनंतशक्ति सम्पन्न यह, ज्ञानमात्र जो भाव ।
 वही एक आराध्य है, अनुभव का आधार ॥ २८ ॥
 सब कुछ इसमें आ गया, रहा न कुछ भी शेष ।
 निर्विकल्प अनुभव करो, हो आनन्द विशेष ॥ २९ ॥

महा जयमाला

(दोहा)

समयसार अध्यात्म का, है जीवन दातार ।
आत्म अनुभव के लिए, एकमात्र आधार ॥ १ ॥

(रोला)

कुन्दकुन्द की अद्भुत रचना समयसार है ।
उनकी अनुभवजन्य देशना का निचोड़ है ॥
समयसार के ज्ञाता-दृष्टा अरु अध्येता ।
उत्तम सुख को पाते - कहते कुन्दकुन्द मुनि^१ ॥ २ ॥

समयसार से अधिक जगत् में कोई नहीं है^२ ।
अद्वितीय अक्षय-चक्षु है जगतीतल का^३ ॥
यह कहना है आत्मख्याति अमृतकलशों का ।
समयसार सिरमौर जिनागम का अमृत है ॥ ३ ॥

जिन-शास्त्रों का सार आगमों का आगम है ।
साधकजन का कल्पवृक्ष है कामधेनु है ॥
जिनशासन-स्तम्भ - कानजीस्वामी कहते^४ ।
इसीलिए वे इस पर जीवन अर्पित करते ॥ ४ ॥

नव तत्त्वों में छुपी हुई जो आत्मज्योति है ।
परमशुद्धनिश्चयनय की जो विषय-वस्तु है ॥
समयसार का एकमात्र प्रतिपाद्य वही है ।
जिसके आश्रय से रत्नत्रय पैदा होते ॥ ५ ॥

नव अधिकारों में विभक्त यह समयसार है ।
अलग दृष्टि से नवतत्त्वों का वर्णन करता ॥

१. समयसार गाथा ४१५

२. समयसार कलश २४४

३. समयसार कलश २४५

४. समयसार : ग्रन्थ और ग्रन्थकार का परिचय पृष्ठ १६

प्रतिपादन का मूल ध्येय तो भेदज्ञान है ।
 भेदज्ञान से सबसे आतम भिन्न बताता ॥ ६ ॥
 वर्णादि-रागादि नहीं मैं, न मेरे वे ।
 यह बतलाते हैं - 'जीवाजीवाधिकार' में ॥
 इनका कर्ता-भोक्ता भी यह जीव नहीं है ।
 यह बतलाते हैं - 'कर्ताकर्माधिकार' में ॥ ७ ॥
 पुण्य-पाप में भेद नहीं - इस परम सत्य का ।
 उद्घाटन करते विशुद्ध अध्यात्म-दृष्टि से ॥
 दोनों ही हैं हेय, न कोई उपादेय है ।
 यह समझाते - 'पुण्य-पाप एकत्व द्वार' में ॥ ८ ॥
 मिथ्यादर्शन अविरति अर कषाय योगों से ।
 कर्मों का आस्रव होता है सब जग जाने ॥
 ज्ञानीजन के मिथ्यादर्शन के अभाव में ।
 रे ! अनन्त भववर्द्धक आस्रवभाव नहीं हैं ॥ ९ ॥
 इसे मुख्य करके कहते हैं जोर-शोर से ।
 ज्ञानीजन को आस्रवभाव नहीं होते हैं ॥
 गुणस्थान के योग्य जहाँ जो आस्रव होते ।
 उन्हें गौण कर कहेँ निरास्रव ज्ञानी होते ॥ १० ॥
 आस्रव भावों के रुकने को संवर कहते ।
 ऐसा संवर भेदज्ञान होने पर होता ॥
 अरे ! धर्म की शुरूआत संवर से होती ।
 संवर ही है परम धरम अपने में होता ॥ ११ ॥

१. संवराधिकार की आरंभिक उत्थानिका

गंगा-जल सम निर्मलता होती संवर में ।
 हिमगिरि सी शीतलता होती है संवर में ॥
 गंगोत्री है धर्मरूप गंगा की संवर ।
 संवर की महिमा से मण्डित धरती-अम्बर ॥ १२ ॥
 यह 'संवर अधिकार' सुसज्जित भेदज्ञान से ।
 रतनत्रय पैदा होते हैं भेदज्ञान से ॥
 अभिनन्दन^१ अधिकार कहें ज्ञानीजन इसको ।
 सच्चे मन से अपनाओ तुम भेदज्ञान को ॥ १३ ॥
 शुद्धि की उत्पत्ति को ही संवर कहते ।
 अर शुद्धि की वृद्धि निर्जरा कही गई है ॥
 सतत निर्जरा के दम पर ही शिवपुर मिलता ।
 जीवन में अति आवश्यक है तत्त्व निर्जरा ॥ १४ ॥
 बन्धतत्त्व की चर्चा है - 'बन्धाधिकार' में ।
 मोक्षतत्त्व को समझाते हैं - 'मोक्षद्वार' में ॥
 बन्ध-हेतु बस! एकमात्र रागादिभाव हैं ।
 अर मुक्ति का हेतु कही है वीतरागता ॥ १५ ॥
 बन्ध-मोक्ष की चर्चा से न जीव मुक्त हों ।
 बन्ध-मोक्ष के चिन्तन से न जीव मुक्त हों ॥
 बन्ध-मोक्ष से भिन्न आत्मा को पहिचानो ।
 यदि होना है मुक्त उसी का ध्यान करो तुम ॥ १६ ॥
 जिसतरह हमारी आँख देखती ही है केवल ।
 करे न भोगे अन्य किसी भी परपदार्थ को ॥
 उसीतरह यह आत्म मात्र जानता ही है ।
 करे न भोगे, अन्य किसी भी परपदार्थ को ॥ १७ ॥

इसीतरह यह ज्ञान, कर्म को उसके फल को ।
 पुण्य-पाप के बन्ध, निर्जरा और मोक्ष को ॥
 मात्र जानता ही है केवल, करे न भोगे ।
 ग्रहण-त्याग भी नहीं करे, तुम यही जान लो ॥ १८ ॥

‘सर्वविशुद्ध’ यह ज्ञान आत्मा ही है जानो ।
 अपने में ही रमो - जमो खुद को पहिचानो ॥
 आत्म का कल्याण इसी में ही है आत्म ।
 अधिक कहें क्या? एक आत्मा को ही जानो ॥ १९ ॥

आत्मख्याति में आगत कलशों से सम्बन्धित ।
 समयसार की गाथाओं का यह अवगाहन ॥
 समयसार का पाठ कराने का यह उपक्रम ।
 ‘समयसार मण्डल विधान’ पूरा होता है ॥ २० ॥

(दोहा)

आत्म की आराधना, एकमात्र है सार ।
 एकमात्र यह भाव ही, जीवन का आधार ॥ २१ ॥

ॐ ह्रीं श्री परमागम-समयसाराय नमः महाजयमाला पूर्णार्घ्यं नि. स्वाहा ।

(दोहा)

दो हजार सोलह दिवस, मार्च माह बावीस ।
 यह विधान पूरा हुआ, मंगलमय आशीष ॥ २२ ॥
 चतुर्दशी अष्टाह्निका, फागुन मास महान ।
 पूर्ण हुआ सानन्द यह, है आनन्द महान ॥ २३ ॥
 पूजन आत्मराम की, कीनी भक्ति-प्रमाण ।
 जो कुछ जैसी बन पड़ी, कीनी शक्ति-प्रमाण ॥ २४ ॥

(इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

॥ इति ‘समयसार महामण्डल विधान’ सम्पूर्णम् ॥

समयसार भक्ति

(मानव)

रे समयसार की पूजा, सा काम नहीं है दूजा ।
 है समयसार जिनवाणी, है कुन्दकुन्द की वाणी ॥ १ ॥

है समयसार शुद्धातम, है समयसार परमातम ।
 दूजा न इसका सानी, यह आतमराम कहानी ॥ २ ॥

यदि चाहो निज हित करना, भवि भव से पार उतरना ।
 तो समयसार को पढ़ना, उसमें ही रमना-जमना ॥ ३ ॥

है समयसार निज आतम, है समयसार परमागम ।
 यह अपनी ही शैली में, नवतत्त्वों का प्रतिपादन ॥ ४ ॥

है अद्भुत इसकी शैली, है अद्भुत इसकी महिमा ।
 है विषय-वस्तु भी अद्भुत, उसकी न कोई सीमा ॥ ५ ॥

यह असीम आतम का, प्रतिपादक ग्रन्थ महा है ।
 इसमें मुक्ति का मारग, ही सहज सुबोध कहा है ॥ ६ ॥

आत्मख्याति टीका में, अमृत ने अमृत घोला ।
 अधिक कहें क्या भाई! इसके रग-रग को खोला ॥ ७ ॥

तात्पर्यवृत्ति टीका में, जयसेन सूरि ने सबको ।
 अत्यन्त सरल शैली में समझाया अबुधजनों को ॥ ८ ॥

स्वामीजी ने प्रवचन कर इसके अन्तर को खोला ।
 सहज देश भाषा में समझाया सहज परोसा ॥ ९ ॥

सब पढ़ो ध्यान से इसको, सब गुनो ध्यान से इसको ।
 होगा कल्याण सभी का, इसमें संशय न समझो ॥ १० ॥

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००	४८. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	२०.००
२-६. समयसार अनुशीलन भाग १ से ५	१२५.००	४९. मैं कौन हूँ	११.००
७. समयसार का सार	३०.००	५०. रहस्य : रहस्यपूर्ण चिह्नी का	१०.००
८. गाथा समयसार	१०.००	५१. निमित्तोपादान	७.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयत्वप्रबोधिनी टीका	५०.००	५२. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
१०-१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग १ से ३	९५.००	५३. मैं स्वयं भगवान हूँ	५.००
१३. कुन्दकुन्द शतक अनुशीलन	२०.००	५४-५५. ध्यान का स्वरूप/रीति-नीति	४.००
१४. प्रवचनसार का सार	३०.००	५६. शाकाहार	५.००
१५. नियमसार : आत्मप्रबोधिनी टीका	५०.००	५७. भगवान ऋषभदेव	४.००
१६-१७. नियमसार अनुशीलन भाग १ से ३	७०.००	५८. तीर्थकर भगवान महावीर	३.००
१८. छहढाला का सार	१५.००	५९. चैतन्य चमत्कार	४.००
१९. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	३०.००	६०. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
२०. वैराग्य महाकाव्य	२५.००	६१. गोमटेश्वर बाहबली	२.००
२१. समयसार महामण्डल विधान	२५.००	६२. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
२२. प्रवचनसार महामण्डल विधान	१०.००	६३. अनेकान्त और स्याद्वाद	३.००
२३. बढ़ते कदम	१०.००	६४. शाश्वत् तीर्थधाम सम्मदशिखर	६.००
२४. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	१५.००	६५. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
२५. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	६६. जिनवरस्य नयचक्रम	१०.००
२६. परमभावप्रकाशक नयचक्र	४०.००	६७. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	१०.००
२७. चिन्तन की गहराइयाँ	३०.००	६८. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
२८. तीर्थकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	२०.००	६९. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
२९. धर्म के दशलक्षण	२०.००	७०. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
३०. क्रमबद्धपर्याय	२०.००	७१. समयसार पद्यानुवाद	३.००
३१. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (पूर्वाद्ध)	२०.००	७२. योगसार पद्यानुवाद	१.००
३२. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (उत्तराद्ध)	१०.००	७३. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
३३. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (सम्पूर्ण)	३०.००	७४. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
३४. बिखरे मोती	१६.००	७५. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
३५. सत्य की खोज	२५.००	७६. अष्टपाहुड पद्यानुवाद	३.००
३६. अध्यात्म नवनीत	१५.००	७७. नियमसार पद्यानुवाद	२.५०
३७. आप कुछ भी कहो	१५.००	७८. नियमसार कलश पद्यानुवाद	५.००
३८. आत्मा ही है शरण	१५.००	७९. सिद्धभक्ति	१०.००
३९. सुक्ति-सुधा	१८.००	८०. अर्चना जेबी	१.५०
४०. बारह भावना : एक अनुशीलन	१६.००	८१. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	५.००
४१. दृष्टि का विषय	१०.००	८२. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	५.००
४२. गागर में सागर	७.००	८३-८४. बालबोध पाठमाला भाग २ से ३	८.००
४३. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१२.००	८५-८७. वीतराग विज्ञान पाठमाला १ से ३	१५.००
४४. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१५.००	८८-८९. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ से २	१२.००
४५. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००	९०. भगवान महावीर और उनकी जन्मभूमि	३.००
४६. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००	९१. समाधिमरण या सल्लेखना	५.००
४७. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	९२. ये है मेरी नारियाँ	५.००

डॉ. भारिल्ल पर प्रकाशित साहित्य

१. तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (अभिनन्दन ग्रंथ)	१५०.००
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व - डॉ. महावीरप्रसाद जैन	३०.००
३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य ह्व अरुणकुमार जैन	१२.००
४. डॉ. भारिल्ल के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन - अखिल जैन बंसल	२५.००
५. गुरु की दृष्टि में शिष्य	५.००
६. मनीषियों की दृष्टि में : डॉ. भारिल्ल	५.००
७. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन ह्व सीमा जैन	२५.००
प्रकाशनाधीन	
१. शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन ह्व नीतू चौधरी	
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ह्व शिखरचन्द जैन	
३. धर्म के दशलक्षण एक अनुशीलन ह्व ममता गुप्ता	